

मनोरंजन-पुस्तकमाला—५४

# नई कहानियाँ

संपादक

राय कृष्णदास

पद्मनारायण आचार्य एम० ए०



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

UNIVERSAL  
LIBRARY

OU\_178766

UNIVERSAL  
LIBRARY

OUP—707—25-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

Accession No. P.G. H6416

Author

कु. अण्णायास रे पञ्चनारायण . सप्पा

Title

नई कहानियाँ

This book should be returned on or before the date last marked below



मनोरंजन पुस्तकमाला-५४

# नई कहानियाँ

संपादक

राय कृष्णदास

षड्नारायण आचार्य, एम० ए०



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

द्वितीय सं० १००० ]

[ फाल्गुन, २०१२

---

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।

मुद्रक—महत्तम राय, नागरी मुद्रक, काशी ।

---

## विषय-सूची

| कहानी                                             | लेखक | पृष्ठ |
|---------------------------------------------------|------|-------|
| १—दो बूँद आँसू—[ श्रीमती माधवी, बी० ए० ]          | ...  | १     |
| २—श्यामा—[ श्रीमती सत्यवती मलिक ]                 | ...  | १४    |
| ३—प्राणों का प्रलय—[ श्री सुधाकर दीक्षित एम० ए० ] | ...  | २६    |
| ४—दो रेखाएँ—[ श्री यमुनादत्त वैष्णव, एम० ए० ]     | ...  | ३७    |
| ५—नुमायश—[ श्री हरदयाल 'मौजी' ]                   | ...  | ४३    |
| ६—रूप—[ श्री रामकृष्णदेव गर्ग, बी० ए०, शास्त्री ] | ...  | ५२    |
| ७—रूप का अंतिम चित्र—[ श्री बलराज साहनी ]         | ...  | ६६    |
| ८—'आषाढस्य प्रथमदिवसे'—[ श्री कमलाकांत वर्मा ]    | ...  | ७५    |
| ९—विद्रोह—[ श्री शांतिप्रसाद वर्मा ]              | ...  | ८२    |
| १०—चाची—[ श्री विष्णु ]                           | ...  | १०२   |
| ११—परिवर्त्तन—[ श्री वीरेश्वर सिंह ]              | ...  | ११२   |
| १२—पराई—[ श्री यशपाल, बी० ए० ]                    | ...  | १२०   |
| नई कहानियों का अनुशीलन—[ संपादक ]                 | ...  | १३१   |



## प्रस्तावना

आजकल हिंदी में कहानी-संग्रहों की बाढ़ सी आ गई है। बिना अत्युक्ति के अब तक दो दर्जन से कम संग्रह नहीं निकल चुके हैं किंतु अधिकांश संग्रहों में धूम धामकर वही वही लेखक और कुछ अंशों में वही वही कहानी आ रही है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि संग्रहकर्त्ताओं को अपने वर्त्तमान लेखकों की प्रतिभा पर आस्था नहीं है। ऐसी मनोवृत्ति उन्होंने इन कृतियों को पढ़कर नहीं बनाई है, प्रत्युत बनाकर ही नए कहानी-लेखकों को पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं समझी है। इस अन्याय का प्रतिकार करने के लिये वर्त्तमान संग्रह प्रस्तुत किया गया है। इसमें १९३६ से १९३६ तक की बारह प्रतिनिधिकहानियाँ यथासंभव समयानुक्रम से दी जा रही हैं।

×

×

×

आरंभिक काल (१९००-११) में हमारा कहानी-साहित्य मुख्यतः बँगला साहित्य पर अवलंबित रहा। उसके बाद वह समय आया जब वह अपने स्वतंत्र मार्ग पर चल पड़ा जिसके प्रतिनिधि कलाकार प्रसादजी और प्रेमचंदजी थे। इस प्रगति (१९११-२७) में वह भारत के, और कुछ अंशों में विश्व के कहानी साहित्य से समकक्ष होकर चला।

१९२७-२८ से कई कलाकार नई भावना और नए विधान लेकर हमारे कहानी-क्षेत्र में आए। ऐसी कहानियों के आरंभिक लेखकों में मुख्य तीन नाम लिए जा सकते हैं—सर्वश्री जैनेंद्र, अज्ञेय और भगवतीचरण वर्मा। उस समय तक भाषासौष्ठव का मुख्य आधार अलंकरण एवं कृत्रिमता वा तराश एवं चुलबुलापन रहता था। इन साहित्यकारों ने भाषा में एक नई ही नहीं, अपनी

जान फूँक दी। उसमें समुचित स्थानों पर आवश्यक बल उत्पन्न किया और व्यर्थ की कड़ियाँ निकाल फेंकीं। इस दिशा में उन्हें गणेशशंकर विद्यार्थी की सजीव शैली से निःसंदेह प्रोत्साहन मिला। कहानी के अद्यतन मुकावों की और बातें भी उन्होंने ग्रहण कीं जिनपर कुछ विस्तार के साथ कहना अनुचित न होगा—

अद्यतन कहानियों में प्रायः कथानक और नाटकीय कथोप-कथन की कमी, सीधा-सादा हलका सा कथानक, अभिव्यक्ति की रमणीयता एवं वर्णन और आंतरिक विश्लेषण की प्रमुखता रहती है। ऐसी रचना हमारे जीवन के लिये विजातीय द्रव्य नहीं रह जाती, उसमें घुल मिल जाती है।

लेखक के मन पर परिस्थिति की जो प्रतिक्रिया होती है, जो अनुभूति होती है वा प्रभाव पड़ता है उसी के आधार पर घटना और परिस्थिति का चित्रण अंगरेजी में 'पर्सनल एसे' कहलाता है। ऐसा व्यक्ति, घटना वा परिस्थिति वास्तविक हो सकती है और काल्पनिक भी। इसी से कहानी और 'पर्सनल एसे' की सीमांत रेखाओं का निर्णय करना कुछ कठिन सा है। दोनों में बहुत कुछ अभिन्नता है। आजकल ऐसी चीजें भी अपने यहाँ लिखी जाने लगी हैं।

अद्यतन समारंभ के पूर्व की अधिकांश कहानियों में एक परिस्थिति भी रहती है। उस परिस्थिति को ठीक ठीक अदा कर देना और उसकी एक स्थायी रेखा वाचक के हृदय पर अंकित कर देना ही लेखक का कौशल और कहानी का चमत्कार है।

परंतु कहानी के सबसे अद्यतन प्रकार में ऐसी रचनाएँ भी अस्वाभाविक गिनी जाने लगी हैं। फलतः उसमें ऐसे चित्र भी अंकित किए जाते हैं जिनमें कोई भी परिस्थिति वा घटना न हो।

कोई गली एक छोर से दूसरे छोर तक कैसी है वा उसमें बसने-वालों के दिन कैसे बीतते हैं, रेल पर एक लंबी वा छोटी यात्रा में क्या देखने सुनने को मिलता है, क्या क्या अनुभव होते हैं, इत्यादि का यथातथ और फड़कता हुआ चित्र खींच देना ही कलाकार का कर्तव्य होता है ।

मनुष्य-जीवन के अधिकांश दिन बिना किसी असाधारण घटना के बीतने हैं, फिर भी मनुष्य उनसे ऊबता नहीं, प्रत्युत उनमें रस लेता है । उनमें जो कुछ घटित होता है उसका न कोई मार्के का आरंभ जान पड़ता है न असाधारण अंत, तो भी उसकी स्मृतियाँ सुखद होती हैं और, जो व्यक्ति उसमें भाग लेते हैं उनमें से कोई ऐसा भी होता है जो प्रसंग आ जाने पर उसको बड़ी रोचकता से सुना सकता है । सुनाने का यह रोचक ढंग ऐसा होता है कि केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिये स्वादु नहीं रहता जिनका उससे संबंध हो, वह दूसरों के लिये भी रसावह हो जाता है । बहुधा यही आदर्श सामने रखकर आधुनिक कलाकार अपनी कहानियाँ लिखता है । जीवन के एक बिलकुल असाधारण और नित्य प्रति के पहलू को वह इस प्रकार सामने ला धरता है कि वह आकर्षक बन जाता है । ऐसा करने में आधुनिक कथाकार अनावश्यक कथोपकथन को भी कहानियों से निकाल देता है जिसकी आज से कुछ ही वर्ष पहले तक कहानियों में भरमार रहती थी ।

इस प्रकार हम लक्ष्य करेंगे कि कहानी कलाकारों ने उसके विधान ( टेकनीक ) को, जहाँ एक और आलंकारिक उक्ति और वर्णन हटाकर, काय से बिलकुल अलग कर लिया, वहाँ नाटक से भी उक्ति मार्ग ग्रहण करके सर्वथा पृथक् कर लिया है । अब हम कह सकते हैं कि कहानी का विधान अपनी पूर्णता को पहुँच गया है ।

अद्यतन कहानी कोई शिक्षा वा उपदेश देने का दावा नहीं करती, न कोई नैतिक संदेश वहन करने के लिये अवतरित होती। किंतु उसका स्वर उससे कहीं ऊँचा होता है। एक सच्ची सी अभिव्यक्ति करके वह उपदेश और पयाम से कहीं ठोस काम कर जाती है—किसी सत्य से हमारा तादात्म्य कर देती है। 'कला कला के लिये' का यदि उच्छृंखल अर्थ न किया जाय तो वह यही चीज है। सुगंध पुष्प का हो जो हमारे मस्तिष्क को ताजा करे, क्लोरोफार्म का नहीं, जो मूर्च्छित ही कर दे। कोई चित्रण यदि वह वस्तुतः सच्चा है तो उसे किसी दूसरे लक्ष्य की आवश्यकता नहीं रह जाती। यही कला है जो स्वतः अपनी पूर्ति है। किंतु यदि अंकन मिथ्या है तो वह कला कहलाने का अधिकारी ही नहीं, फिर उसकी स्वतः सिद्धि की कौन चर्चा ?

तो भी, साहित्य अपने समय का प्रतिबिम्ब होता है। हमारा वर्त्तमान युग क्रांति का है। सारे भूमंडल की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाएँ सड़ गल गई हैं, अतएव चारों ओर उनके नाम पर, व्यवस्था के बदले, अंधाधुंध फैला हुआ है। यह दुरवस्था मानवता को जकड़े हुए ही नहीं है, उसे पीसे भी डाल रही है। '.....' अंततः बहुत सहने के बाद, उसका विद्रोही हो उठना स्वाभाविक है। इस प्रकार सारे संसार में नए, पुराने का तुमुल संघर्ष चल रहा है। नवीन भावना परंपरागत सभी नियमों को बंधन बुढ़भस और अत्याचार मानती है। और, प्राचीनता को नए खून की सभी बातें गढ़-पचीसी और उच्छृंखलता जँचती हैं। '.....' एक बात निश्चित है—देवासुर-संग्राम में देवता ही अपने ज्येष्ठ पूर्व-देवताओं ( असुरों ) का संहार करके विजयी हुआ करते हैं; यह सनातन नियम है।...

शंकर का यह तांडव नर्तन एक बार सँभी पुरातन संस्थाओं का संहार किए बिना विराम न लेगा। तभी नया सृजन हो पाएगा। और, उस सृजन पर हमें अविश्वास न करना चाहिए, क्योंकि सृजन सदैव 'यथापूर्व' हुआ करता है। अब आवेगा तो सतयुग ही आवेगा।

कुछ विषयांतर सा हो गया। हम यह कहने जा रहे थे कि ऐसे विप्लव-युग की कहानियों का वादी स्वर विद्रोह की भावना होना अनिवार्य है। यही उनका निजस्व है। इस विद्रोह की भावना में किसी हद तक उस सहानुभूति का अभाव है जिसका होना कलाकार में आवश्यक है, क्योंकि विद्रोही, प्रतिगामी वा गाड़ी के काठ के प्रति कटु है, तीव्र है, प्रतिहिंसक है। किंतु विद्रोह की एक आध्यात्मिक धारा भी है। हमें इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसे प्रवाहित करने के लिये हमारे बीच बापू अवतरित हुए हैं। फलतः प्रगतिशील कहानियों में दोनों ही प्रकार की भावनाओं का अंकन हुआ है। किन्हीं में कटु विरोध है, किन्हीं में व्यापक सहानुभूति। रूसी साहित्य का इस उत्थान पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा, क्योंकि वहाँ के देशकाल और दृष्टिकोण से भारत का साम्य था।

उक्त तीन अग्रणियों के सिवा सर्वश्री सत्यवती मलिक, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, बलराज साहनी, हरदयाल 'मौजी', रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, 'पहाड़ी', उपेंद्रनाथ 'अश्क', अस्तरहुसेन रामपुरी, शांतिप्रसाद वर्मा आदि, आदि इस उत्थान के प्रमुख कहानी-लेखक हैं।

किंतु आधुनिक शैली का जैसा परिपाक यशपालजी की लेखनी में हुआ है वह अभूतपूर्व है। उनकी कहानियाँ उन्नत से उन्नत साहित्य में प्रमुख स्थान पाने की अधिकारिणी हैं।

उक्त कलाकारों के सिवा आज कितने ही ऐसे सरस्वतीपुत्र भी हैं जिनकी एकाध कहानी ने ही स्थायी साहित्य में उनका स्थान बना दिया है। उदाहरण के लिये संग्रह की पहली कहानी-लेखिका श्री मती माधवी देवी कभी कदास लिखती हैं। 'दो बूँद आँसू' संभवतः उनकी एकमात्र कहानी है, तथापि वह है प्रथम श्रेणी की कृति। उसका अंत हमारी आँखों से भी हठात् दो बूँद आँसू गिरवा देता है। श्री सुधाकर दीक्षित भी इस श्रेणी के लेखकों में हैं। १९३५ वाले क्वेटा के खंडप्रलय (भूकंप) पर हिंदी कहानियाँ निकलीं, किंतु उनके 'प्राणों के प्रलय' से करुण, मार्मिक और समस्यापूर्ण कोई नहीं।

इस प्रकार की अन्य कहानियाँ भी मिलेंगी। इस समय हमारा कहानी-बाढ्मय बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। प्रति मास सैकड़ों कहानियाँ निकल रही हैं, और संग्रहकर्ताओं की भाँति संपादक भी परिचित नामों की ही खोज में रहते हैं। फलतः अनेक ऐसी कहानियाँ जो बहुत अच्छी होने पर भी अभाग्य वश (!) किसी नई वा अपरिचित लेखनी से निकलती हैं, किसी ऐसे पत्र में ही घुस पाती हैं जिनकी ओर बहुत कम दृष्टि जाती है। यदि यह संग्रह रुचिकर पाया गया तो हम इधर के अन्य छिपे रत्न भी सहृदय-वृंद के सामने ला धरेंगे।

प्रस्तुत संग्रह में कहानियाँ रखने की अनुमति प्रदान करने के लिये हम उनके कलाकारों के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। इसकी प्रेस कापी तैयार करने में और प्रूफ में श्री पलकधारी सिंह ने जो श्रम किया है उसके लिये भी हम आभारी हैं।

# नई कहानियाँ

## दो बूँद आँसू

[ श्रीमती माधवी, बी० ए० ]

पाँच वर्ष पूर्व की घटनाएँ मानों कल ही हुई हों। परिताप की अग्नि से हरीश का हृदय धायँ धायँ जल रहा है। जीवन के किसी अभागे क्षण में हमसे कोई ऐसी भूल हो जाती है कि इच्छा होती है, जो भरकर रो लें—बस रोते ही रहें।

पाँच वर्ष पहले—

हरीश ने एल० टी० किया और डी० ए० बी० कालेज में टीचर हो गया। नए जमाने का युवक था, नए विचार थे ! माता पिता ने कहा—“विवाह कर लो” और उसने एक हल्की मुसकान में बात उड़ा दी। उसकी आँखों के सामने सिविल लाइंस का एक छोटा सा बँगला नाच गया—एक छोटी सी ‘बेबी आस्टिन’, वह बैठा है और साथ में कोई और भी। शाम को घूमने के बाद वापस आ रहा है। बँगले के ‘गेट’ पर पीतल के अक्षरोंवाला बोर्ड लगा है—“हरीश गुप्ता, बी० ए०, एल० टी०” ! आह कैसा सुन्दर समय होगा वह !

माता पिता को छोड़कर वह देहरादून आया, नौकरी पर। ‘डालनवाले’ में लता-कुंजों के बीच से होकर एक सड़क चली गई है ‘प्रीतम रोड’। वहीं उसके मामा एक सुंदर कोठी में रहते हैं। फारेस्ट इंस्टीट्यूट के कोई बड़े अफसर हैं। वक्त खतम हो जाने पर भी बड़ी देर तक ‘लेबोरेटरी’ में बैठे बैठे प्रयोग करते रहने का उन्हें व्यसन है। इसलिये हरीश को वे अपना अधिक समय तो न दे सकेंगे, पर उसे

कुछ तकलीफ न होने पायेगी। अपना घर है, स्नेहमयी मामी है और मामी के चाँद से बच्चे हैं। वे सब उसका दिल बहलाते रहेंगे।

तो हरीश देहरादून आ गया। यहाँ के सौंदर्य ने उसे आते ही मोहित कर लिया है। प्रकृति यहाँ कितनी उदार हो गई है। नैसर्गिक सौंदर्य यहाँ अनंत क्रीड़ा में रत दिखाई देता है। वर्षाकाल की संध्या में वह बैठा देखा करता, वर्षा की रिमझिम बूँदें तालाब के शांत जल पर पड़तीं और वह तरंगित हो उठता, रह रहकर उसमें लहरें उत्पन्न होतीं और किनारे की ओर दौड़ पड़तीं। वह कल्पना करता, मानों कोई चंचल बालक है, स्नेहमयी माता उसे थपकियाँ दे देकर सुलाने का प्रयत्न कर रही है, पर वह मचल उठता है और उठ उठकर भागता है।

प्रभात के सुहावने समय में बाग की रविशों में वह टहला करता। तरह-तरह के देशी और विदेशी पुष्पों के पौधे चारों ओर खिलते, खेलते और हँसते दिखाई देते। उसकी मामी की छोटी बच्ची रजनी किलकारियाँ भरती आती और अँगुली थामने के लिये हरीश की ओर अपने छोटे छोटे हाथ बढ़ा देती। हरीश उसे गोद में उठाकर चूमने लगता और वह अपने आपको इस बंधन से छुड़ाती हुई किसी ओर अँगुली उठाकर पूछती—“वह क्या?” और इससे पहले कि उसको अपने प्रश्न का जवाब मिले, वह दूर भाग जाती और किसी सुंदर फूल को तोड़कर हरीश को दूर से दिखाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को नचाते हुए हँस देती। उसी समय मंद-मंद बयार बहने लगती। ऊँचे-ऊँचे यूकलैप्टिस के दरखतों की पत्तियाँ सन-सन करती हुई झूमने लगतीं और हरीश मन हो मन कहता—“अगर फिरदौस बरलूये ज़मीनस्त। हमीनस्तो, हमीनस्तो हमीनस्त।”

हरीश के मामा की कोठी के सामने ही सड़क की दूसरी ओर किसी रईस का आलीशान महल था। घोड़े, हाथी, मोटर और नौकर चाकर सभी कुछ थे। दिन रात संगीत की ध्वनि वहाँ से आया करती। फिर भी उस समस्त स्थान का वातावरण कुछ रहस्यमय प्रतीत होता। जब कभी हरीश उस महल के बड़े दरवाजे के सामने से गुजरता, उसे कुछ ऐसा अनुभव होता है कि वहाँ के नौकर चाकर सब कुछ काना-फूसी कर रहे हैं और कोई असाधारण घटना हो गई है।

उस दिन अचानक हरीश को उसके मामा ने बुलाया। मामाजी अक्सर चुपचाप और अलग गम्भीर समस्याओं में निमग्न रहा करते थे। हरीश से उनका बहुत कम मिलना होता था और जब तक कोई असाधारण घटना न हो जाती, वे उसे अपने पास न बुलाते। आज अचानक अपनी पुकार हुई देख हरीश को आश्चर्य हुआ। वह अनुमान करने की चेष्टा करने लगा कि आखिर क्या बात हो सकती है। उसने सोचा—“शायद मामाजी कहेंगे, तुम अभी तक क्लब के मेंबर नहीं बने हरीश! तुम्हारे जैसे युवक को इतना रिजर्व्ड नहीं होना चाहिए। कुछ सोशल होने का अभ्यास करो!” ऐसी हालत में वह कहेगा—आजकल शुरुआत की वजह से काम बहुत ज्यादा है, जरा ‘सेटिल’ होते ही क्लब का मेंबर बन जाऊँगा!” उसके मामा सदैव सोशल बनने के लिये प्रोत्साहित करते हैं, पर हरीश को एकांतवास और एकांतचिंतन ही अधिक प्रिय है।

तरह तरह की कल्पनाएँ करते हुए वह मामा के पास गया। मेज के पास बैठे वे कुछ लिख रहे थे। एक बार सिर उठाकर उन्होंने कहा—“बैठो” और फिर लिखने लगे। दो मिनट बाद कलम रखकर उन्होंने कहना शुरू किया—“सामने जो यह रईस रहते हैं, इनको जानते हो न?”

हरीश ने दबी जवान से कहा—“जी” और सोचने लगा—“मेरा उनसे क्या संबंध हो सकता है?”

मामाजी कहते रहे—“बेचारे बड़े भले आदमी हैं। कल ही उन्होंने मुझसे कहा था, उनकी साली देश से आ गई है। उसे अँगरेजी पढ़ाने के लिये कोई ट्यूटर चाहते थे। उन्होंने मुझसे सलाह माँगी थी और मैंने तुम्हें रिकमेंड कर दिया है।”

निर्लिप्त स्वर से हरीश ने फिर कहा—“जी।”

“डेढ़ घंटे के लिये चालीस रुपये माहवार बहुत हैं। और मैं चाहता हूँ तुम्हारा वहाँ आना जाना हो जाय। समाज में स्थान बनाने के लिये ऐसे संबंधों की अत्यंत आवश्यकता है।”

उसी स्वर में हरीश ने एक बार फिर कहा—“जी।”

मामाजी ने कहा—“अच्छा तो जाओ, आज शाम को सात बजे उन्होंने बुलाया है।”

हरीश चुपचाप उठकर चला आया। स्वीकृति अस्वीकृति का यहाँ प्रश्न ही नहीं था और वह जानता था कि यह मामा का आदेश है। और फिर उसने सोचा—“चालीस रुपये कुछ कम नहीं हैं।”

×

×

×

×

संध्या के सवा सात बजे हैं।

उन्हीं रईस के महल के एक सजे हुए ड्राइंगरूम में हरीश बैठा है। पास ही के दूसरे कमरे से संगीत की ध्वनि आ रही है। हरीश ने सुनने का प्रयत्न किया—ग्रामोफोन पर रेकार्ड बज रहा था—

“अभी कमसिन हो रहने दो,  
कहीं खो दोगे दिल मेरा।”

बड़ी मामूली सी सड़क पर ताँगा चलानेवालों की गजल थी। फिर भी उसने हरीश को तरह तरह के विचारों की उलझन में डाल दिया। न जाने कब तक वह विचारों में निमग्न बैठा रहा।

सहसा कुछ व्यक्तियों के आने की पद-ध्वनि हुई। हरीश सचेत हो गया। वह विचार करने लगा, रईस महोदय के साथ उसे कैसा व्यवहार करना होगा।

लेकिन उसकी कल्पना निर्मूल थी। उसने देखा, कमरे में प्रवेश करनेवाली एक ऊँचे कद की महिला है। उनके पीछे एक छोटी कोई अठारह वर्ष की युवती थी, जो उन महिला के पीछे छिपी रहने की चेष्टा सी कर रही थी।

हरीश उठकर खड़ा हो गया। उसने अनुमान किया, यह महिला ही शायद रईस महोदय की पत्नी है और यह युवती ही इनकी छोटी बहिन है।

उन महिला के एक कोच पर बैठ जाने के बाद हरीश भी बैठ गया। वह सलज्ज युवती भी महिलावाली कोच पर एक कोने में बैठ गई। उन्होंने पूछा—“आप ही मिस्टर हरीश...?”

बात काटते हुए हरीश ने कहा—“जी हाँ !”

उन्होंने अपनी बात जारी रखी—“मिस्टर गुप्ता के भानजे...?”

बात काटकर हरीश को फिर कहना पड़ा—“जी हाँ !” परिचय के प्रसंग को वह शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देना चाहता था।

महिला ने कहा—“यह मेरी छोटी बहिन है।” सहसा उनके गंभीर मुख पर लालिमा दौड़ गई और क्रमशः कम होती हुई उनके चेहरे को सफेद बना गई। पर शीघ्र ही उन्होंने अपने को संभाल लिया और फिर उसी तरह गंभीर होकर कहा—“इन्हें ही आपसे पढ़ना है।”

आश्चर्य और औत्सुक्य के मिश्रित भावों के साथ हरीश उनके चेहरे के परिवर्तन देख रहा था।

इसके बाद कुछ बातें पुस्तकों और अध्ययन के संबंध में हुईं और दूसरे दिन से आने की बात निश्चित कर शीघ्रता से वह चला आया। चलते समय उसे मालूम हुआ, युवती का नाम “अरुणा” है।

बातचीत के सारे समय, अरुणा अपने नाखून कुरेद रही थी।

पर हरीश तो रह रहकर यही सोच रहा था—परिचय देते समय रईस-पत्नी इतनी विचलित क्यों हो गई थीं ?

×

×

×

अरुणा को पढ़ाते हुए पंद्रह दिन हो गए हैं।

हरीश ने देखा, अरुणा को पढ़ाना आसान कार्य नहीं है। बड़ी आयुवाली होने के कारण यों ही वह उसे कुछ नहीं कह सकता था और फिर रईस की लड़की। डाँट फटकार का न जाने क्या बुरा नतीजा निकले। और अरुणा जैसी लापरवाह लड़की उसने आज तक नहीं देखी थी। वह उसे सबक याद करने को देता और वह दूसरे दिन कोरी को कोरी आ बैठती। “देखिए मास्टर साहब, मेरी एक सहेली आ गई थी और कल शाम को हम लोग सिनेमा देखने चले गए थे।”

और फिर निस्संकोच होकर कहने लगती—“हाँ आपने नहीं देखा मास्टर साहब। हमें तो ‘जैकी कूगन’ बड़ा अच्छा लगता है।” उस वक्त भी साइलेन्ट सिनेमामें कभी कभी जैकी कूगन के फिल्म आ जाते थे।

और फिर तुरंत ही वह फिल्म की कहानी सुनाने लगती। और जैकी कूगन के मुँह बनाने की नकल करती।

शाम को हरीश ताकीद कर जाता, इतना ट्रांसलेशन कल जरूर कर लाना। और दूसरे दिन वह उसी तरह निश्चित भाव से आ बैठती

और कहती—“देखिए मास्टर साहब, हमारी कलम मुन्नु ने छिपा दी थी। मैं यह काम कैसे करती।”

लेकिन एक यही दिक्कत तो नहीं थी। हरीश उसे सबक पढ़ाता और वह विरोध करती हुई कहती—“यह कैसे हो सकता है मास्टर साहब, एस टी ई ए एल स्टील और एस टी ई ई एल...भी स्टील।”

हरीश कहता—“हाँ, दोनों ही स्टील हैं.....।”

बात काटकर अरुणा कहती—“लेकिन दोनों के ‘स्पेलिंग’ में तो फर्क है, मास्टर साहब।” हरीश चिढ़कर जोर से कहता—“जैसे मैं कहता हूँ, कहो!”

अरुणा बेफिक्रीके साथ चुप हो जाती और एक मिनट बाद ही पढ़ती, आर ई ए एल “रील”। हरीश चिल्ला उठता—“रील नहीं, रियल।”

अरुणा किताब पटककर कहती—“यह क्या मास्टर साहब, अभी तो आपने कहा था एस टी ई ए एल ‘स्टील’, तब फिर आर ई ए एल रियल क्यों?”

हरीश अपने माथे पर हाथ मारते हुए कहता—“हाँ, यह ‘रियल’ ही है, रील नहीं।”

पढ़ाई फिर शुरू होती और दो मिनट बाद अरुणा निस्सङ्कोच होकर कहती, एच ई ए एल ‘हियल’।

हरीश के लिये अब अधिक रुकना कठिन हो जाता और बलात् उसके चेहरे पर हँसी फूट पड़ती।

अरुणा आश्चर्य से उनकी तरफ देखती रहती और तब खुद भी खिलखिला पड़ती।

कुछ देर तक दोनों बेतहाशा हँसते रहते। उसी समय हरीश को ऐसा मालूम होता, पदों के पीछे कोई आकर खड़ा हो गया है। वह गंभीर हो जाता और नए सिरे से पढ़ाई शुरू होती।

x

x

x

इस अल्हड़ लड़की के पढ़ाने में हरीश को आनंद आने लगा है।

कोई दिन ऐसा नहीं बीतता, जब वे दोनों जी भरकर हँस न लेते हों ! अरुणा आती, पढ़ाई शुरू होती और तब अचानक बीच पढ़ाई में उसे कुछ याद आता और पूछ बैठती—“एन० डब्ल्यू० आर० माने, मास्टर साहब ?”

हरीश कहता—“नार्थ वेस्टर्न रेलवे।”

और अरुणा ऑल नचाती हुई कहती—“वाह आप कुछ भी नहीं जानते। एन० डब्ल्यू० आर० माने है “निकम्मी वाहियात रेलवे !” और जोर से वह हँस पड़ती। हरीश के लिये अपनी हँसी रोकना कठिन हो जाता।

लेकिन हरीश एक शिक्षक है और अरुणा एक रईस की लड़की। उनका इस तरह बैठकर बच्चों की तरह हँसना शोभा तो नहीं देता। हरीश आगे से सतर्क रहने का विचार करता, लेकिन जब मोतियों से दाँत चमकाकर अरुणा उसके सामने मुक्त हास्य करती तो उससे चुप रहा न जाता।

आखिर वही हुआ जिसकी हरीश को आशंका थी। एक दिन रईस महोदय ने उसे बुलाकर कह ही दिया—“तुम समझदार हो और मेरे छोटे भाई के समान हो। अरुणा बेवकूफ है पर तुम्हें तो उसके साथ बेवकूफ नहीं बनना चाहिए। तुम शिक्षक हो और तुम्हें यह ध्यान होना चाहिए कि लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ?”

हरीश लज्जा से गड़ा जा रहा था। वह समझ नहीं पाता, उसके जैसा चिंतनशील युवक अरुणा के सामने आते ही क्यों इहना मूर्ख हो जाता है। वह सोचता है—“मामा सुनेंगे तो क्या कहेंगे? कौन सा मुँह लेकर उनके सामने जाऊँगा?”

उसने विचार किया, यह नौकरी छोड़ दे। पर इस विचार मात्र ने ही उसे बेचैन कर दिया। वह जानता था, ऐसा करना उसके लिये असंभव है। संध्या के इस डेढ़ घंटे की प्रतीक्षा करते ही तो उसका सारा दिन बीतता है।

उसने अधिक सतर्क रहने का विचार किया। वह अब फालतू बात करेगा ही नहीं।

दो चार दिन वह बहुत गंभीर रहा। ऐसा मालूम होता था, अरुणा पर भी डाँट फटकार पड़ी है। वह भी चुप रही।

लेकिन एक दिन फिर अचानक ऐसा प्रसंग आ पड़ा कि अरुणा चुप न रह सकी। बड़े जोर से वह हँसने लगी। हरीश ने अपने आप-को बहुत रोका; पर जो प्रवाह तीन-चार दिन तक बलात् रुका रहा था, वह मौका पाकर तूफानी वेग से टूट पड़ा।

न जाने कितनी देर तक वे हँसते रहे। अचानक पर्दा हटा और रईस महोदय ने कमरे में प्रवेश किया।

+

+

+

दूसरे दिन सुबह हरीश को उसके मामा ने बुलाया। डरते-डरते अपराधी की भाँति वह उनके कमरे में आ गया। मामाजी ने शांत भाव से एक पत्र उसकी ओर बढ़ा दिया। हरीश ने देखा, वह पत्र रईस महोदय के पास से आया है। और उसके साथ ही पूरे महीने

के चालीस रुपये का एक चेक भी था। पत्र का आशय केवल यही था कि दूसरे दिन से वह अरुणा को पढ़ाने के लिये आने का कष्ट न करें। प्रश्नसूचक दृष्टि से मामाजी ने हरीश की ओर देखा, पर उसके लिये वहाँ खड़ा रहना भी असम्भव हो गया। वह चुपचाप अपने कमरे में चला आया।

बढ़ी देर तक बिस्तरे में मुँह छिपाकर हरीश फूट फूट कर रोता रहा। अचानक उसे स्नेहमयी माता की याद हो आई। अप्रैल का महीना था। गर्मियों की छुट्टियाँ होने में थोड़े ही दिन बाकी थे। चेष्टा कर उसने इन दिनों की छुट्टियाँ ले लीं और घर के लिये चउ दिया।

गंभीर चिंताओं में निमग्न रहकर जैसे तैसे एक महीना उसने घर में काटा। और तब उसे मामा का पत्र मिला। वे सपरिवार मसूरी जा रहे थे और उन्होंने हरीश को माता पिता के साथ आने का आग्रह किया था।

वह सप्ताह समाप्त होते न होते वे लोग मसूरी के लिये रवाना हो गए।

X

X

X

मसूरी आकर न जाने क्यों हरीश को व्यथा दिन दिन फिर बढ़ने लगी। वह सदैव उदास रहने लगा। संध्या और रात्रि के अँधेरे में घंटों वह सुनसान सड़कों पर घूमा करता।

उस दिन शाम को—

५ बजे होंगे। दिन भर बूँदा बौंदी रही थी। जून का प्रारंभ था फिर भी मसूरी के लिये वर्षा कोई आश्चर्य की वस्तु नहीं थी।

दिन भर घर में उदास बैठे रहने के बाद हरीश घूमने निकला। केमिल्स बैंक रोड से होता हुआ वह शार्लैविले होटल जानेवाली सड़क

पर आ गया। बहुत दूर जाने पर उसने एक जगह नीचे की ओर एक दूसरी सड़क जाते देखी। मुहाने पर लिखा था—“शिमला चकरौता रोड।” सड़क सुनसान मालूम होती थी। हरीश उसी पर हो लिया।

कुछ ही दूर पर एक बड़ा बँगला बना हुआ था। हरीश को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों इस बँगले से उसका कुछ अविच्छिन्न संबंध हो।

वह आगे बढ़ता गया। सड़क के किनारे एक बड़ी शिला कुछ इस ढंग से रक्खी थी मानो चबूतरा हो। उसी पर सिर झुकाए एक युवती बैठी थी। हरीश ने कौतूहलवश युवती को कुछ ध्यान से देखने की चेष्टा की और तब अचानक उसके मुख से निकल गया—“अरुणा।”

युवती ने सिर उठाया। सचमुच वह अरुणा ही थी।

हरीश ने देखा, अरुणा का वह लावण्य और वह कांति नहीं रह गई है। ऐसा प्रतीत होता था कि वह वर्षों की बीमार हो।

बड़ी देर तक वे कभी मौन, कभी रुदन और कभी बातों द्वारा एक दूसरे को सांत्वना देते रहे।

हरीश को आज पता लगा, अरुणा रईस-पत्नी की बहिन नहीं है, गाँव की सलज युवती शहर में नर्स का काम सीखने आई थी। दुर्भाग्यवश एक दिन डाक्टरनी के साथ उसे रईस महोदय के घर पर आना पड़ा, उसके बाद का इतिहास बड़ा विचित्र है। किस प्रकार उसके लालची भाई ने उसे रईस की विलास-अग्नि में जलने के लिये, कुछ च्चाँदी के टुकड़ों के लोभ से झोंक दिया, किस प्रकार उसे रईस-पत्नी की बहिन बनाकर रक्खा गया और उसे रईस-पत्नी की ईर्ष्या का पात्र बनना पड़ा। किस प्रकार रौरव नरक सा जीवन उसे व्यतीत करना पड़ रहा है, यह सुनकर हरीश की आत्मा विद्रोह कर उठी।

अरुणा ने बताया, उसकी एकमात्र लालसा, इस जीवित कारागार से निकलकर किसी संस्था में रहकर स्वावलंबन का जीवन व्यतीत करने

की है। उसने हरीश से प्रार्थना की, वह किसी प्रकार उसे किसी महिला-आश्रम में पहुँचा दे।

हरीश अपने क्रोध और क्षोभ को दबाए वह सारी कथा सुन रहा था। उसने कहा—वह अभी पुलिस में जाकर रिपोर्ट करेगा।

अरुणा ने हाथ जोड़कर उससे विनती की, वह अपने लिये अब किसी को भी विपत्ति में नहीं डालना चाहती। उसकी एकमात्र आकांक्षा, चुपचाप किसी महिला-आश्रम में चले जाने की है।

किसी तरह शांत होकर हरीश ने वचन दिया, दो दिन बाद इसी समय, इसी स्थान पर वह उसकी प्रतीक्षा करेगा।

+

+

+

आज ही—

हरीश ने अरुणा को ले आने का वचन दिया है।

वह सोच रहा है, मान लो अगर रास्ते में कोई जान-पहचान का व्यक्ति मिल गया और मैं पकड़ा गया तो क्या होगा ?

उसने सोचा था, वह अरुणा को आर्यसमाज में ले जाएगा। वहाँ वह कुछ दिन रहेगी, फिर उसका कहीं प्रबंध करा देगा। “लेकिन अगर आर्यसमाजवाले उसे न रखें तो ?.....” रात्रि को वह उसे लिए कहाँ ठोकें खाता फिरेगा ? और फिर उसका प्रबंध क्या होगा ? क्या उसके घरवाले उसे आश्रय देने को तैयार न होंगे ?

अगर रईस महोदय स्वयं पुलिस में रिपोर्ट कर दें और वह पकड़ा जाय तो ? माना अरुणा बालिग है, लेकिन उसकी बदनामी तो होगी ही और वह है एक शिक्षक। उसकी नौकरी छूट जायगी। उसका सारा भविष्य का जीवन धूल में मिल जायगा।

वह धीरे धीरे कायर बनता जा रहा था।

उसने सोचना शुरू किया—“अरुणा को वहाँ क्या दुःख है !  
अच्छा खाना, अच्छा पहनना, आराम से रहना ।”

उसने मन ही मन कहा—“अगर वह आज उसके पास न जाय  
तो...।” और यह ‘तो’ धीरे धीरे निश्चय में बदल गया ।

५ बजे ! ६ बजे !! और हरीश बैठा बैठा सोचता ही रहा !

+ + +

पाँच वर्ष बीत गए—

हरीश उन घटनाओं को, अपनी कायरता को, अपने पाप को  
बहुत कुछ भूल गया है ।

किसमस की छुट्टियों में उसके एक मित्र ने उसे लखनऊ बुलाया ।  
और एक दिन—

सन्ध्या को उसके मित्र ने कहा—“चलते हो ?”

हरीश ने जवाब दिया—“चलो ।”

एक चौबारे पर सजे हुए कमरे में दो युवकों ने प्रवेश किया ।  
दो बड़ी बड़ी आँखें ऊपर उठीं ।

एक युवक ने घबड़ा कर कहा—‘अरुणा ।’

दो बूँद आँसू अरुणा के पीले गालों पर ढलक पड़े ।

## श्यामा

[ श्रीमती सत्यवती मलिक ]

[ १ ]

मोहन भी तब सौंदर्य के उन अनोखे प्रेमी पुष्कारियों में से एक था, जो इस संपूर्ण विश्व की अनंत विभूतियों में से मनचाही वस्तुएँ एकत्र करके उन्हें अपने ईंट-पत्थर के सीमित घेरे ( जिन्हें हम लोग घर कहते हैं ) के भीतर ही सजाकर, हर घड़ी उन्हीं की शोभा देखते रहना ही अपना एकमात्र ध्येय समझते हैं ।

किसी विशाल उद्यान में से छाँट-छाँटकर लाए गए नन्हें-नन्हें कोमल पौधे जब उसके घर के छोटे से आँगन में कतार में रखे हुए मिट्टी के गमलों में भीनी भीनी महकवाले रंग-बिरंगे फूल देने लगते, तो मोहन आतुर होकर उन सुंदर पुष्पों को भरी जवानी में ही निष्ठुरता के साथ हरे डंठल से तोड़ लेता और अपने ड्राइंगरूम के ऐन बीच में रखी हुई श्वेत संगमरमर की गोल मेज पर चमकते हुए फूलदान में ला रखता और इस तरह परम सुख अनुभव करता ।

प्रातः सायं इस खुले व्योम में बिना रोक,टोक के पंख फैलाकर स्वतंत्रता के गीत गाते हुए पक्षियों का कलरव उसे एक बार ऐसा आकर्षक जान पड़ा कि जब तक उसने नीले पंखों और सुनहली गर्दन वाली एक अबोध चिड़िया को हर समय उसकी चहचहाहट सुनने के लिये पिंजरे में डालकर अपने घर के बरामदे में लटका न लिया, तब तक उसे चैन न मिली ।

शायद मोहन नहीं जानना चाहता था कि वे सुंदर फूल हरे डंठल के साथ दो दिन और भी टिके रह सकते हैं, और वह नन्हीं चिड़िया

मुक्त वायुमंडल में बिना किसी प्रतिबंध के अपने छोटे-छोटे पंख फैला और भी सुरीली रागिनी गा सकती है। सौंदर्य का उपासक मोहन संभवतः अपनी इसी स्वछंद प्रकृति के कारण ही जब कालेज की पढ़ाई समाप्त करके एक बड़े शहर में अच्छी जगह मिल जाने की खुशी में पहाड़ चला गया था, तब अपने शहर की कई अप-टू-डेट पढ़ी लिखी कन्याओं के प्रस्तावों को बीच में छोड़ उस सुदूर पार्वत्य प्रदेश के किसी छोटे से गाँव की एक असंस्कृत गँवार सी, परंतु सुंदरतर और दृष्ट-पुष्ट बालिका को न जाने उसकी किस अदा पर रीझकर अपनी चिर-संगिनी बना लाया था।

एक निर्मल झरने के समीप ही पहाड़ी खेतों में से रंग-बिरंगी जंगली फूलों का छोटा सा गुलदस्ता बनाकर वह नीचे सड़क पर आ जा रहे यात्रियों को देने के लिये प्रतिदिन आया करती थी। तब मोहन उन निर्जीव फूलों से कहीं अधिक सुंदर उस सजीव गुलाबी फूल की किसी चंचल मुस्कराहट पर ललच उठा था, अथवा यौवन-वसंत के मदमाटे दिनों में वह भोली ग्रामीण बालिका श्यामा स्वयं ही उस जाल में फँसी थी, यह एक विवादास्पद प्रश्न है।

जो कुछ भी हो, अब मोहन श्यामा को घड़ी भर के लिये भी आँखों से ओझल करना नहीं चाहता था। उसके लंबे ऊँचे कद, श्वेत गुलाबी कोमल चेहरे पर की बड़ी काली लजीली आँखों पर जी जान से फिदा था। वह दिन भर श्यामा के रूप की प्रशंसा के पुल बाँधा करता—“हे दिव्यरूपिणि तुम किस लोक से यह अतुल रूप-वैभव लेकर उतरी हो? तुम्हारे मधुर कंठ से निकली सुरीली आवाज ने, तुम्हारे सुंदर नयनों के कटाक्ष ने और तुम्हारे भोले-भोले मुख पर की चंचल मुस्कराहट ने मुझे मोहित कर लिया है।” फिर वह मन ही मन जैसे गर्व के साथ कह उठता—‘भला ऐसा अलौकिक रूप और ऐसा

स्वस्थ बदन कहीं शहरों में भी दृष्टिगोचर होता है ?' वह अपने सौभाग्य पर फूला न समाता था ।

सीमांत प्रदेश के उस पहाड़ी गाँव की स्वच्छ और उन्मुक्त वायु में पहाड़ी झरनों और नदी नालों के किनारे पली हुई, मक्का-ज्वार के खेतों में और फल-फूलों से भरपूर हरे-भरे पेड़ों तले सखी सहेलियों के संग उछल-कूदकर मनमानी मौज उड़ानेवाली श्यामा पहले पहल नई बंदी चिड़िया की तरह, शहर की चहारदीवारी और असंख्य जनसमूह द्वारा विकृत वायु के कारण, चाहे कितनी ही क्यों न तड़प उठी हो और भले ही वह इस नए अद्भुत संसार के करिश्मों को देख देखकर चकित हो अपनी अनभिज्ञता के कारण कई प्रकार के कौतूहल प्रकट करके मोहन के सामने उपहास की पात्र बनी हो; परंतु बहुत अल्प समय में ही श्यामा ने किस भाँति उसके कुर्सी, पलंग, गलीचे आदि पर उठने बैठने की सभ्यता को, टेबुल पर बैठकर नाना प्रकार के चीनी के बर्तनों में खाना खाने की उपयोगिता को तथा बातचीत करने का ढंग को अपनी प्रखर बुद्धि द्वारा अपना लिया, यह सब विस्तार से कहना वृथा जान पड़ता है ।

हाँ, उसने देश को, अपनी गँवारू भाषा को और इससे भी अधिक अपनी सखी सहेलियों की याद को भी मोहन द्वारा प्राप्त होनेवाले इस आदर-सत्कार, प्रेम और प्रशंसा के सामने तुच्छ जानकर भुला दिया । श्यामा यौवन-रूपी मदभरी नदी की उच्चाल तरंगों में उछल उछलकर बहने लगी ।

दिन को जब मोहन अपने आफिस चला जाता, तो श्यामा घंटों अपने शरीर की सफाई में खर्च करती, बक्स और आलमारी में रखे हुए रंग-बिरंगे चमकदार रेशमी वस्त्रों को छूँटने में न जाने कितना समय व्यतीत करती और संध्या होने से पूर्व ही वह कोई बड़िया

जरीदार साड़ी अथवा सलमे सतारे की झिलमिल करती हुई पोशाक पहने अपने घने लंबे काले केशों को यज्ञ से सँवारती और भाँति भाँति के सुगंधित तेल डालकर उन्हें विविध रीति से फूलों द्वारा गूँथती थी। फिर बिजली के तीक्ष्ण आलोकित प्रकाश में जब वह बड़े आइने के सम्मुख सज धजकर मस्ती से झूमती झामती मानों रूप लावण्य की वर्षा सी करती हुई बड़े अभिमान से खड़ी होती, तो स्वयं ही अपना छवि को निहार जैसे मन ही मन गर्वित हो कह उठती—भला, वह रूप और यौवन भी किस काम का, जिसे किसी ने न परखा ही, सराहा ही ! वह नगमे और तराने भी किस काम के, जिन्हें सुनकर कोई हृदय झूमकर मस्त ही न हुआ, और वे अदाएँ ही क्या, जिन्हें देखकर किसी दिल ने आह न खींची !

मोहन को यदि किसी दिन घर लौटने में घंटे भर की भी देर हो जाती, तो श्यामा को यह क्षणिक वियोग असह्य हो उठता। वह कभी एक कमरे से दूसरे कमरे में और कभी आँगन में व्याकुल हो चक्कर काटती और फिर बरामदे में जा सड़क की ओर देखते हुए कोई विरह-गीत गुनगुनाया करती ! और जब मोहन चुपके चुपके पीछे से आकर उसकी उत्सुकता भरी आँखें मूँद लेता, तो श्यामा के सारे शरीर में जैसे बिजली सी दौड़ जाती। वह उस कोमल स्पर्श से मानो बेसुध सी हो उठती। आह ! वह कैसा मायावी जाल बिछा रखा था मोहन ने, और कैसी अलहड़ थी वह भोली बालिका श्यामा !

[ २ ]

जिस समय उमंगों के बादल और तरंगों की हिलोरें दो भिन्न-भिन्न हृदयों में एक ही क्षण, एक ही साथ, एक ही दिशा में उठ खड़ी होती हैं, तो उनके परस्पर मिलन से एक विद्युत् की सी अद्भुत रेखा प्रस्फुटित हो उठती है, आश्चर्यजनक स्फूर्ति मिलती है, आह्लाद का

गर्जन सुनाई देता है। जीवन का वह क्षण कितना मधुमय होता है ! देश, जाति, शिक्षा आदि सभी प्रकार की विभिन्नताओं के होते हुए भी हम एक दूसरे की भीतरी आत्मा के कितने निकट पहुँच जाते हैं ! किंतु जब कभी यही लहरें बेमौके और पृथक्-पृथक् उठकर, कुछ समय के लिये एक भयंकर तूफान का रूप धारण कर लेती हैं तो उस घड़ी हम, एक साथ उठते बैठते और खाते पीते हुए भी, अपने को एक दूसरे से कितना दूर समझने लगते हैं। मानव स्वभाव की यह कितनी विचित्रता है !

हाँ, तो वसंत की बहार, ग्रीष्म की तीक्ष्ण दुपहरी और सावन-भादों के बदली भरे दिन श्यामा ने उसी विशाल नगरी के एक कोने में उसी सजे सजाए घर में, मस्ती से गुजार दिए, किंतु न जाने क्यों करुण पतझड़ की उदासी आने के पूर्व ही उसने, पिंजरबद्ध चिर प्रवासिनी चिड़िया की भाँति, एक विषाद-भरी रागिनी कुहक कुहककर छेड़ दी।

उन्माद उतर जाने के बाद जो दशा किसी मनचले युवक की होती है, वही दशा श्यामा की थी। पूर्ववत् स्वतंत्र जीवन बिताने की चाह श्यामा के अंतस्तल में वेग के साथ उठ खड़ी हुई और उसके अंतःकरण को व्याकुल करने लगी, मानो वह गहरी नींद से उठी हो।

किसी सुनहली संध्या को जब सूर्यास्त का मनोरम दृश्य देखने के लिये उसकी आँखें तरसती होतीं और सायंकाल की ठंडी हवा में अपने मकान के एक ऐसे स्थान पर बैठकर जहाँ से थोड़ा सा खुला आसमान दिखाई देता था, वह नीचे की सड़क पर देखा करती, जहाँ कुछ बालक-बालिकाएँ मिलकर आँखमिचौनी का खेल-खेल रहे होते और श्यामा निर्निमेष नेत्रों से एकटक उन्हें देखा करती तब उसका हृदय उमड़ आता, और वह भी फिर उसी दुनियाँ में प्रवेश करने को लालायित हो उठती। एक क्षण के लिये उसका जी चाहता कि क्यों न

वह भी उन बच्चों में मिल जावे, परंतु नहीं, अब तो वह बाबू मोहनलाल रईस की इज्जतदार बहू है ।

यदि मोहन उसकी इस तुच्छ आकांक्षा को कभी सुन पावे, तो वह उसका कितना उपहास करे । वह तो यही कहेगा न कि श्यामा का जंगलीपन अभी तक नहीं छूटा । हाय ! वह अनजान में कैसा महँगा सौदा कर बैठी है ।

बाल्यकाल की स्मृति और ग्रामीण तरुण हृदय की अभिलाषाएँ तेज हवा के झोकों के समान शहरी सभ्यता के नियमों और रहन-सहन की मर्यादाओं की मजबूत दीवारों के विरुद्ध रह रहकर थपेड़े मारने लगतीं, मानों अपने प्रबल वेग से इन बंधनों को तोड़ डाले बिना उन्हें चैन नहीं ।

अपने रूप और सौंदर्य की निरंतर प्रशंसा सुनते सुनते श्यामा ऊब गई थी । वह उस शानदार मकान की प्रत्येक वस्तु को अपनी स्वतंत्रता के मार्ग में बंधन सा समझने लगी थी, मानो उसे आत्मबोध हुआ हो । अब वह अपने इस हाड़ मांस के शरीर को हर घड़ी सजाने की अपेक्षा अपने आंतरिक सूक्ष्म शरीर को खोज निकालने का प्रयत्न करने लगी थी ।

दोपहरी के सन्नाटे में जब इस बड़े शहर के असंख्य कामकाजी मनुष्यों की भाँति मोहन भी एक बड़े आफिस की कुर्सी पर बैठकर अपने काम में व्यस्त होता है, तब बेचारी श्यामा अपने उसी घर के कमरों में एक कुर्सी से दूसरी कुर्सी पर धम से अनमनी होकर जा गिरती है । कभी कभी जब इस निःस्तब्धता को भंग करते हुए नीला-काश में कोई चील चीं चीं की लंबी सी कर्ण गूँज संपूर्ण वायुमंडल में फैलाती हुई उड़ती चली जाती है, अथवा कभी सड़क पर से कोई वंशी

बेचनेवाला एक व्यथित सी तान छेड़ता हुआ निकल जाता है, तो श्यामा का दुःखित हृदय उस गूँज और उस तान को एकदम से समेटकर और भी बेकल हो उठता है। ताल-स्वर की रागिनियों के ज्ञान से भले ही वह अपरिचित हो; पर ये ध्वनियाँ तो उसके अंतस्तल में प्रतिध्वनित होकर जैसे उसे किसा पूर्वजन्म की याद दिलाती हैं, और उसका हृदय वेदना से भर जाता है।

इसी समय गद्देदार कुर्सी का विश्राम और बिजली के पंखे की कृत्रिम ठंडी हवा श्यामा के चित्त को उस पहाड़ी प्रदेश की शीतल ऋतु के किसी अतृप्त सुखद प्रभात की याद दिला देती है। आह ! उस रूखी सूखी घाटी की संपूर्ण नम्रता श्वेत हिम के आँचल में किस भाँति छिप गई है। उस गाँव के संपूर्ण झोपड़ों और कच्चे-पक्के मकानों पर, सूखे वृक्षों और चट्टानों पर, पिछली रात को गिरी चाँदी सी उज्ज्वल वर्षा प्रातःकाल के हलके प्रकाश में कैसी जगमगा रही है, मानों प्रकृति ने स्वयं ही सफेद साटन की झिलमिल झिलमिल करती हुई अनुपम पोशाक पहन ली हो।

श्यामा अपने भाई बहनों के साथ उसी रूई सी ताजी बर्फ के गोले बना बनाकर अपने पड़ोसियों के बच्चों पर फेंक रही है। उन बच्चों की ओर से भी वैसे ही गोलाबारी हो रही है। जब किसी के कपड़ों में वे शीत कण घुस जाते हैं, तब विकट हँसी की ध्वनि से एक लहर सी उठ खड़ी होती है। श्यामा के हाथ ठंड से लाल हो चुके हैं, पर उसे कुछ परवा नहीं। वह अभी माँ की गर्म छाती से चिपकाकर उन्हें गर्म कर लेगी।

किस तेजी के साथ दृश्य पलट जाता है।

सामने नदी के उस पार की पहाड़ी ग्रीष्म ऋतु के सूर्यास्त की लाल किरणों से जैसे स्वर्णमयी हो गई है। श्यामा सखी सहेलियों के

साथ सिर पर मिट्टी का घड़ा रखे ऊँचे-नीचे पहाड़ी रास्ते पर चलकर उन काली सफेद चट्टानों के बीचोबीच कलकल शब्द करते हुए बहनेवाले झरने से पानी भरने आई है; पर इतनी जल्दी क्या पड़ी है लौटने की ? वहीं काली सफेद चट्टानों पर पाँव फैंलाकर एक दिलकश पहाड़ी गीत गाया जा रहा है। और कभी आस-पास के सेव तथा खूबानी के वृक्षों को जोर से हिला हिलाकर फलों से झोलियाँ भरी जा रही हैं। और वे निर्जीव मिट्टी के घड़े भी उसी झरने के नजदीक पड़े-गड़े मोतियों की वर्षा सी फुहारों में नहाते रहते और मानों झरने का संगीत सुनते रहते हैं।

ऐसे ही सुखद समय में जब दरवाजे के बीचोबीच खड़ा होकर रसोइया धीमे स्वर में प्रश्न कर देता है—“बीबीजी ! रात को तरकारी क्या बनेगी ?” तो श्यामा एकदम चौंक सी पड़ती है। वह कुछ क्षण के लिये किर्कतव्यविमूढ़ सी हो देखती है; परंतु दूसरे ही क्षण सम्हलकर चाँदी का एक चमचमाता रुपया फेंककर दूसरे कमरे में चली जाती है और पलंग पर पछाड़ सी खाकर गिर पड़ती है। और जब उसी समय नौकर को मटर, आलू, गोभी लाने की समस्या सुलझाने के लिये मालकिन के पास दुबारा आने की जरूरत होती, तब श्यामा की आत्मा तड़प उठती है, और उसकी स्वच्छंद आत्मा इस कारागार से पल भर के लिये मुक्त होने की उत्कट इच्छा से व्याकुल हो जाती है।

×

×

×

इधर मोहन अब भी संध्या के समय मन में यही आशा लिए घर में प्रवेश करता है कि श्यामा उसका स्वागत करने के लिये उसी तरह वस्त्राभूषण-युक्त और अलंकृत हो मुसकराती हुई दरवाजे पर मिलेगी। परंतु यह क्या ? श्यामा को तो अब जैसे वह कोमल स्पर्श भी कठोर प्रतीत होने लगा है। वह मोहन के आकुल भुजगाश से घायल हरिणी

की तरह निकल जाना चाहती है, और उसके बाद खुली खिड़की के पास खड़े होकर वह चुपचाप तारों भरे आकाश की ओर देखने लगती है। उसके चेहरे की वह मधुर मुसकराहट, जिसे देखकर मोहन मत-वाला हुआ करता था, खोजने पर भी दिखाई नहीं देती।

मोहन मानो विचलित होकर अनुराग भरे शब्दों में प्रश्न करता—  
“श्यामा, तुम मुझसे नाराज हो क्या ?”

श्यामा का व्यथित हृदय तो एक बार उसे उकसाता है कि वह कातर स्वर में कह ही दे—“मोहन, पल भर के लिये तो मुझे इस बंधन से मुक्त कर दो।” लेकिन उसका जी भारी हो उठता है, वह दुविधा में पड़ जाती है, और आँखों के कोनों तक जल भरकर, दूसरी ओर मुँह फेरे, रुँधे गले से उत्तर देती है—“नहीं तो।”

तब मोहन कुछ वैराग्य का सा भाव धारण करके धीरे से कहता है—“आजकल तुमने यह क्या वेष बना रखा है ? वह जार्जेट की नीली फूलदार साड़ी और श्वेत मोतियों के इयरिंग क्या बक्स की शोभा बढ़ाने का ही लाए गए थे ?”

मोहन कहता चला जाता है—“यह जीवन चार दिन का है। यह अलबेला यौवन सदा न रहेगा। रानी, तुम नित नए वेष में सज-धज-कर मेरी आँखों के सम्मुख मुसकराती रहो, और मैं चिरकाल तक तुम्हारी रूप-सुधा का पान करता रहूँ।”

श्यामा का ग्रामीण हृदय यह गंभीर उपदेश सुनकर चीत्कार कर उठता है। उसकी सुप्त आत्मा जैसे जाग उठती है—“अरे, तो क्या नारी की सृष्टि प्रभु ने केवल इसी लिये की है ? और क्या पुरुषमात्र नारियों से केवल इतना ही कुछ चाहते हैं ?”

काश ! मोहन उस समय जान सकता कि इन वस्त्राभूषणों की चाह में निरंतर लिप्त रहनेवाली इस अपढ़ गँवार नारी के मन में भी आज

कोई ज्योति की किरण उदित हुई है ! मोहन, कभी तुमने उसकी अंतरात्मा की ध्वनि को भी सुनने का और पहचानने का प्रयत्न किया है ?

किंतु जिस किसी दिन कार्यवश थका माँदा मोहन बहुत देर से घर लौटता और चुपचाप पलंग पर लेट जाता तो श्यामा के हृदय-रूपी वेगवती नदी का प्रवाह एकदम उलटा बहने लगता है। वह अब भी मोहन के खिले मुख पर आँति की हल्की सी रेखा देखकर अधीर हो उठती है। वह सोचने लगती है—“अरे, मैं कितनी नासमझ हूँ ! जो व्यक्ति मेरे ही सुख के लिये दिन रात परिश्रम करने के बाद मेरी एक ही मुसकराहट से सब दुःख दर्द भूल जाता है, क्या मैं उसके प्रेम-बंधन से कभी छुटकारा पा सकती हूँ ?”

बच्चे को दंड देने के उपरांत माँ का हृदय जिस अनुताप और पश्चाताप से भर उठता है और वह जिस तरह और भी अधिक वात्सल्य-रस से ओत-प्रोत होकर अपने शिशु को पुचकारती है, उसे नए नए खिलौने और भाँति भाँति की वस्तुएँ देकर अपने मन का उद्वेग कम करती है, ठीक उसी प्रकार के भावों की सृष्टि श्यामा के अंतःकरण में भी हो उठती है।

वह जल्दी से स्वयं ही रसोईघर की ओर जाकर नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन परोसने की व्यवस्था करके बिना किसी शिकवा-शिकायत के मुसकराती हुई मोहन के पास आ पहुँचती है। श्यामा के हृदय की निरंतर जलन, जो उसे घंटों तक बेचैन बनाए रखती है, इस समय के क्षणिक अनुपात के सम्मुख पिघलकर बह जाती है।

[ ३ ]

वर्षों इसी भाँति गुजर गए हैं। सूर्य-चंद्र तारा सभी इस विश्व के रंगमंच पर उसी प्रकार प्रदीप्त होकर अपना कर्त्तव्य पूरा करते चले जा

रहे हैं। कहीं कुछ भी परिवर्तन नहीं है। इस नीलाकाश में प्रभात की सुनहली किरणों से पूर्ण आशामयी उषा हँसते हँसते अपना संदेश नित्यप्रति सुना जाती है। बादलों के समूह छिन्न भिन्न तो जरूर हो जाते हैं, परन्तु पुनः उसी उमंग से आसमान को भर देते हैं। शीतकाल और हेमंत की प्रबल आँधी आती तो अवश्य है; किंतु उसके बाद शीघ्र ही चंचल वसंत भी आ पहुँचता है। पर हाँ, प्राणि जगत् की हृदय-कली ! जब तेरे हृदय का आह्लाद किसी भी आघात से सहसा रुक जाता है, तब लाख प्रयत्न करने पर भी भौतिक शरीर की भाँति वह पूरी तरह से खिल नहीं पाता।

श्यामा के मानस में भी अब वह उमंगों और तरंगों का ज्वार-भाटा नहीं उठा करता। उसका हृदय अब उस सरोवर के स्वच्छ शांत जल की तरह हो गया है, जो दक्षिण पश्चिम की प्रबल हवा के झोंकों से उछल-उछलकर पुनः उसी सीमित स्थान में निश्चेष्ट और गंभीर हो जाता है।

और शायद इसी लिये शहर के विषैले वायु ने ईर्ष्या-पूर्वक श्यामा की गुलाबी रंगत को छीनकर उसे हल्के पीलेपन का उपहार दे दिया है। शायद सभ्यता के नियमों ने भी उसके चेहरे पर की वह चंचल मुसकराहट दूर कर दी है, और उसके माथे पर अनेक स्थिर और गंभीर रेखाएँ अंकित कर दी हैं।

परन्तु उसके अनमने जीवन में पुनः रस लाने के लिये प्रभु ने अपनी अपार दया से उसे एक वास्तविक उपहार दिया है। दुःख-फेन की भाँति शुभ्र और नवनीत की तरह कोमल एक शिशु, जिसकी अर्थहीन आँ-आँ के स्वर में स्वर मिलाती हुई वह अपनी कसक को भी भुला देती है।

आज उसके जीवन में एक नए प्रेम और एक नए बंधन की मंदा-  
किनी प्रवाहित हो रही है ।

श्यामा अब तितली सरीखी चंचल-हृदया सुकुमारी नहीं रही और  
न वह उद्भ्रांत-चित्त तरुणी ही है—अब तो वह अपनी सारी उमंगों  
और हसरतों को हृदय के एक कोने में छिपाकर रखनेवाली गंभीरहृदया  
माँ बन गई है । और इसी मातृत्व ने मानों उसके जीवन की सभी  
समस्याओं को बड़ी आसानी के साथ सुलझा दिया है ।

---

## प्राणों का प्रलय

[ श्री सुधाकर दीक्षित, एम० ए० ]

[ १ ]

क्वेटा, बिलोचिस्तान का सुरम्य उद्यान क्वेटा, आज नगरनिवासियों का कब्रिस्तान था। रात के भयानक भूकंप में क्वेटा में प्रलय हो गया। हजारों सुदृढ़ मकान टूटकर खंडहर हो गए, लाखों स्त्री-पुरुष, बालक जीवित ही दब गए। दिन निकलने पर बचे खुचे लोगों ने देखा, चारों ओर विनाश था। आकाश धूल से भरा हुआ था। सूर्य ने भी बादलों की ओट में अपना मुँह छिपा लिया था। थोड़ी थोड़ी देर बाद पृथिवी दहल उठती थी; एक साथ ही बहुत सी तोपों के दूर पर गरजने जैसा शब्द होता था। वायुमंडल काँप उठता था।

दोपहर तक रेसकोर्स के बड़े मैदान में कई सौ खीमे लग गए और उनमें घायलों की सेवा-शुश्रूषा के लिये अस्पताल खुल गए और निराश्रितों के लिये आश्रय का प्रबंध किया गया। हजारों फौजी सिपाही गिरे हुए मकानों के मलवे से अधमरे और सिसकते हुए प्राणियों को खोद खोदकर निकाल रहे थे। फौजी मोटर-बसें घायलों को रेसकोर्स की ओर ला रही थीं। जो पैदल चलने योग्य थे, वे स्वयं ही गिरते पड़ते, रोते कलपते खीमों की ओर चले आ रहे थे। चारों ओर हाहाकार, रोदन और त्राहि त्राहि की पुकार मची हुई थी।

तीसरे पहर के समय कैप हास्पिटल के सामने एकत्र घायलों की भीड़ को चीरता हुआ एक सिख नवयुवक डाक्टर के सामने पहुँचा। वह अपने हाथों पर एक बेहोश युवती को सँभाले हुए था। डाक्टर ने

उसे देखते ही अंदर ले जाने की आज्ञा दी। खीमे के दरवाजे पर पर्दा डाल दिया गया। पंद्रह-बीस मिनट बाद हाथ में रजिस्टर और पेंसिल लिए हुए एक नर्स बाहर निकली और युवक की ओर देखकर बोली—‘शोर नेम प्लीज ?’

‘मिस्री बोधासिंह ।’

‘लेडी का नाम ?’

‘सिरदारनी...’

‘आपका सिरदारनी ?’—नर्स ने युवक की ओर आँख उठाकर उसे आलोचनापूर्ण दृष्टि से देखा। वह काँप रहा था। उसके सिर से रक्त की धार बह रही थी, जैसे कोई भारी वस्तु गिरने से सिर फट गया हो। उसके वस्त्र फटे हुए थे।

‘ना जी’,—युवक ने काँपते हुए कहा—‘सिरदार बसन्तसिंह ठीके-दार दी सिरदारनी ।’

‘आल राइट’,—नर्स ने रजिस्टर में नाम लिखते हुए कहा—‘सिरदारनी को बच्चा हुआ है। सिरदारनी अच्छा है।’ और वह खीमे में चली गई।

फिर संध्या हो गई। कुछ समय में क्वेटा का ध्वंसावशेष रात्रि के गहरे अंधकार में सो गया। रेसकोर्स के मैदान में असंख्य अधकड़े, घायल, भूखे, भग्नहृदय प्राणियों का आर्तनाद एक विराट् आह बनकर आकाश की ओर उठा और महाशून्य में विलीन हो गया। तारे सुनी अनसुनी सी करके नित्य की भाँति चमकते रहे !

[ २ ]

भूकम्प में जिनका सर्वस्व लुट गया, उन्हें भी अपनी जान प्यारी थी। असंख्यों निराश्रिता स्त्रियाँ, अनाथ बालक और गृह-विहीन पुरुष

क्वेटा को छोड़कर अन्यत्र जाने के लिये आतुर थे। पंजाब और सिंध के सभी बड़े शहरों के लिये स्पेशल ट्रेनें छूट रही थीं; जो जहाँ चाहे, जा सकता था, इन अभागों मुसाफिरों की भीड़ में एक रूपसी युवती पाँच छः दिन के बच्चे को हृदय से चिपटाए बैठी थी। उसके सुंदर मुख पर विषाद की गहरी छाया थी। सामने एक सिख नवयुवक नम्र भाव से खड़ा था। वह घायल था, उसके सिर पर पट्टी बँधी हुई थी।

‘सिरदारिनी, आपने किदर जाना है?’—नवयुवक ने पूछा।

युवती ने कुछ उत्तर नहीं दिया। घुटनों पर अपना सिर टेककर उसने मुँह ढक लिया। स्टेशन पर रेलवे इंजन गरज रहे थे, चारों ओर कोलाहल मचा हुआ था; किंतु उसने कुछ नहीं सुना। वह अपने अतीत का चिंतन कर रही थी। अभी एक वर्ष पहले बन्नी की पहाड़ी बस्ती में वह अपने वृद्ध पिता के साथ रहती थी। फिर उसका विवाह हुआ। विवाह के एक महीने बाद वृद्ध पिता चल बसे। मायके का चिराग बुझ गया। उसके पति सरदार बसंतसिंह ही अब उसके सर्वस्व थे। तरुण रसिक ओर प्रफुल्लवदन बसंतसिंह उसके जीवन में मूर्तिमान् बसंत की तरह आए और बसंत की ही तरह खिजाँ के एक झाँके में चले गए। आह, वे उसे कितना प्यार करते थे! उसके पूरे नाम फूलकौर को भूलकर वे उसे ‘फूल! फूल!’ कहकर पुकारते थे और मधुलोभी भ्रमर की भाँति उसके चारों ओर मँडराते हुए कुछ गाते थे। उस प्रलय की रात को भी वे गा रहे थे। उस रात को उनके सिंधी मित्र और पुराने सहपाठी डाक्टर अदवानी उनके घर मेहमान थे। उनके अनुरोध से बसंतसिंह ने उन्हें बहुत से गाने सुनाए। अर्धरात्रि के समीप जब फूल सोने के कमरे में अपने बसंत की प्रतीक्षा कर रही थी, तब वह ड्राइंग-रूम में गा रहे थे—

‘रात अँधेरी कुंभण घेरी दरिया ठाठाकारे,  
अरे असाँदा हाल को जाणे जो बैठे दरियाव किनारे ।’

मधुर स्वर-लहरी अंधकार-भरे आकाश में गूँज रही थी। प्रतीक्षा से विह्वल फूल ने भी सोचा—‘अरे असाँदा हाल को जाणे...’ और इसी ध्यान में सो गई। बसंतसिंह अपने मित्र के साथ दूसरे कमरे में सोए। फिर... फिर क्या हुआ, यह सोचकर फूलकौर का सिर चकराने लगा। स्टेशन पर से सीटी की तीखी आवाज उठी और ‘भक-भक’ ‘भक-भक’ शब्द करती हुई एक ट्रेन चल दी। उसका ध्यान भंग हो गया। सामने खड़ा बोधासिंह कह रहा था—‘पंजाब दी गड्डी छूटी, किदर जाना सिरदारनी ?’

फूलकौर ने उत्तर में अपने सजल नेत्रों से बोधासिंह की ओर देखा। वह कुछ न बोल सकी; परंतु उसका अश्रु-जल कह रहा था—‘क्या बताऊँ, किदर जाना !’ वह मानो पूछ रहा था—‘क्या तुम्हारे साथ चलूँ ? क्या तुम...’ आँखों में काँप काँपकर कपोलों पर ढलककर मोती जैसे अगणित आँसू जमीन पर गिरकर धूल में मिल गए। बोधासिंह मिस्री था। उसे लकड़ी और लोहे की अच्छी पहचान थी; पर वह आँसुओं की भाषा नहीं जानता था। वह अविवाहित था, स्त्री-हृदय की भावनाओं को नहीं पहचानता था। वह गरीब था; एक समृद्ध घराने की कुल वधू क्या चाहती होगी, यह वह नहीं समझ सकता था। सिरदारनी को टूटे मकान के मलवे में से निकालकर उसने अपना कर्त्तव्य पालन किया था। अब उसे उसके संबंधियों के यहाँ पहुँचाकर दूसरा कर्त्तव्य-पालन करना चाहता था, बस।

किंतु थोड़ी देर में उसे मालूम हो गया कि सिरदारनी का इस विस्तृत संसार में गोद के वच्चे को छोड़कर कोई अपना नहीं है। वह भी अकेला ही था। केवल एक बुढ़िया मौसी अमृतसर में रहती थी।

उसने वहीं जाने का निश्चय किया। अगली स्पेशल ट्रेन से बोधासिंह अमृतसर के लिये रवाना हुआ। गाड़ी के एक कोने में सिरदारनी अपने बच्चे को छाती से चिपटाए बैठी थी। खिड़की में से उसने देखा कि क्वेटा—उसके जीवन की रंगभूमि का ध्वंसावशेष—प्रतिक्षण उससे दूर होता हुआ आँखों से ओझल हो गया! 'भक-भक' 'धड़-धड़' करती हुई स्पेशल ट्रेन उसे किसी दूसरे संसार में ले जा रही थी।

### [ ३ ]

अमृतसर में रहते हुए फूलकौर को कई महीने बीत गए। वह दिन भर घर के काम-काज में लगी रहती। बोधासिंह पी० डब्ल्यू० डी० के वर्कशाप में नौकर हो गया था। जब वह थका हुआ शाम को कारखाने से लौटता, तब फूल दूध की लस्सी से उसका स्वागत करती। उसके मैले साफे और काले दाग लगी हुई कमीज को खूँटी पर टाँगती और शाम का भोजन बनाने में लग जाती। बोधासिंह उसके छः मास के लड़के निहाल को गोदी में लेकर खिलाने लगता। जब बोधासिंह झुनझुना बजाता हुआ कहता—'सिरदारों', 'सिरदारों', तब वह अबोध शिशु अपना छोटा सा गोल मुँह फाड़कर मुसकरा देता और अपने नन्हें नन्हें हाथों से उसकी दाढ़ी खींचने लगता। बोधासिंह खिलखिलाकर हँस पड़ता। रसोईघर में से फूलकौर मातृस्नेह से प्रभावित सी होती हुई शिशु को मीठी झिड़की देती। बुढ़िया मौसी हँसने लगती।

रात को सब काम से निपटकर फूलकौर अपने निहाल को हृदय से चिपटाकर बुढ़िया मौसी के पास सो जाती। कभी-कभी बहुत रात बीते तक उसकी आँख न लगती। अपने उजड़े हुए जीवन वसंत का ध्यान करके वह फूट फूटकर रोने लगती। उसके निहाल के पिता बसंतसिंह कैसे थे—रूपवान्, धनवान्, बुद्धिमान्। उन्होंने फूल को

अपने हृदय से लगाकर अंधकारमयी अनिरवता में न जाने कितनी बार प्रेम प्रकट किया था, न जाने कितनी बार आजन्म सुख के स्वप्न देखे थे । अहा, वे दिन कैसे मधुर थे ! और अब ? अब फूल का जीवन कैसा था—सुखविहीन, प्रेम शून्य । उसे अपने निहाल के अतिरिक्त संसार में किसी से प्रेम न था । हाँ, बोधासिंह के लिये उसके हृदय में स्थान था; परंतु वह कृतज्ञता के कारण, प्रेम के कारण नहीं । बोधासिंह ने भूकम्प में उसके प्राण बचाए; वही अब उसका और निहाल का पालन-पोषण कर रहा था । वह इस उपकार के बदले में उसके लिये क्या न करती । बोधासिंह उसके बहुत निकट था; किंतु क्या वह वसंतसिंह द्वारा रिक्त किए हुए स्थान को भर सकता था ? नहीं । वसंतसिंह फूल के जीवन के कविवर्य थे—उल्लास, उन्माद और संगीत से पूर्ण । और बोधासिंह सेवाभाव का जीवित आदर्श था—निरीह, निःस्पृह, महान्, परंतु संमोहन-विहीन ! फूल वसंतसिंह से प्रेम करती थी, उन्हें अपना इष्ट मानकर; और बोधासिंह का आदर करती थी उसे अपना उपकारी जानकर । अपने सूने हृदय में प्रेम के स्थान पर आदर का भाव भरकर उसने अपना दुःख भुलाने का बहुत प्रयत्न किया; पर वह असफल रही । उसका प्रेम शून्य जीवन उपकार के भार से जितना अधिक दबता गया, वह उतनी ही दुखी होती गई । और जब वह उन्मत्त होने की कोई युक्ति सोचती, तब उसे कुछ न सूझ पाता ।

इस प्रकार दो महीने और व्यतीत हो गए । गरमी का मौसम ढल गया, वर्षा शुरू हो गई । इस बीच में एक दिन अचानक ही बोधासिंह की बुढ़िया मौसी चल बसी । अब घर में बोधासिंह और फूल के अतिरिक्त कोई नहीं रहा; निहाल तो अबोध बालक था । फूल और बोधासिंह के बीच में जो मानों एक झीना सा परदा था वह मौसी के मरने से फट गया । वे दोनों अब घर में किस

अन्य व्यक्ति से बात करते। मौसी के रहते हुए भी फूल सब कुछ करती थी; पर उसके व्यवहार में एक तटस्थता सी थी; वह अब न रह सकी। किसी चीज की आवश्यकता होती तो उसे बोधासिंह से कहना पड़ता। बोधासिंह भी अनुरोध के साथ उसकी आवश्यकताओं के बारे में उससे पूछता और उसके न बताने पर अपनी इच्छा से उसके लिये नए कपड़े बनवाता, नई वस्तुएँ लाता। वह उन्हें स्वीकार कर लेती एक प्रकट मुस्कान के साथ; पर उसके हृदय का विषाद और भी प्रगाढ़ हो जाता—उपकार का भार बढ़ता जा रहा था।

इस प्रकार दो महीने और कट गए। एक दिन शाम ही से बोधासिंह खाट पर पड़ रहा। कुछ खाया भी नहीं। उसके सिर में भयंकर पीड़ा थी। फूल चिंतित हो गई। निहाल को दूध पिलाकर उसने और दिन से जल्दी ही सुला दिया, फिर बड़े संकोच से बोधासिंह के कमरे में गई। वह कराह रहा था। बाहर प्रबल वायु घर के किवाड़ों में सिर मार मारकर जैसे कराह रही थी। आकाश में बादल जैसे गरज रहे थे। घटाटोप अँधियारी थी। हाथ को हाथ नहीं सूझता।

साहस करके फूल बोधासिंह की खाट के पास फर्श पर बैठ गई और उसका सिर दाबने लगी। बोधासिंह ने आँख खोलकर उसकी ओर देखा; वह रोने लगा। लोहे और लकड़ी से संपर्क रखनेवाला मिस्त्री रूपवती युवती के स्पर्श को नहीं सहन कर सका। उसका शरीर काँप रहा था; हृदय धक् धक् कर रहा था। बोधासिंह अपने वश में न था। तभी वायु के प्रबल झोंके से खिड़की खुलकर बंद हो गई, दीपक बुझ गया। तभी आकाश से मूसलाधार वर्षा होने लगी.....

[ ४ ]

जब से फूल ने बोधासिंह को आत्म-समर्पण किया, तब से वह प्रसन्न रहने लगी। वह सतीत्व के उच्च आदर्श से पतित हो गई; किंतु उसने

एक दूसरे आदर्श का निर्वाह किया, अपने प्राण-रक्षक के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश में अपने को दे दिया। अब उपकार के भार से वह व्यथित नहीं होती। बोधासिंह उसका सब कुछ था—पिता, पति, भाई, मित्र, सब कुछ। वह उस पर अपना अधिकार समझने लगी। उसने नवीन उल्लास के साथ अपना नवीन जीवन आरंभ किया; परंतु फिर भी कभी कभी वसंतसिंह की स्मृति हृदय में शूल की भाँति खड़ी हो जाती थी। ऐसी अवस्था में उसे जान पड़ता कि यद्यपि उसने अपना शरीर बोधासिंह को दे दिया; किंतु उसका हृदय अब भी वसंतसिंह का था। उसके प्राण अपने खोये हुए प्राणधन को खोजने के लिये विह्वल थे।

एक रात को फूल ने स्वप्न देखा। भूकंप के प्रकोप से छिन्न भिन्न हुआ क्वेटा शमशान के समान वीरान था। घड़ाघड़ वर्षा हो रही थी, कभी कभी बिजली की चमक से क्षण भर को अंधकार मिट जाता था। एक टूटे हुए मकान के खँडहर से मर्मभेदी गान का स्वर उठा—

“रात अँधेरी कुंभण घेरी दरिया ठाठाकारे  
अरे असाँदा हाल को जाणे.....”

वसंतसिंह की आवाज़ थी—वही मस्ती, वही माधुर्य, वही उड़ान। फूल विह्वल हो गई। उसी समय बिजलीकी कड़कड़ाहट से उसकी आँख खुल गई। स्वप्न भंग हो गया। देखा कि पास में बोधासिंह लेटा हुआ सुख की नोंद सो रहा है, कमरे के एक कोने में लालटेन जल रही है और बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही है। जागने पर भी उसे कुछ समय तक येही जान पड़ा कि कहीं बहुत दूर पर वसंतसिंह गा रहे थे—‘अरे असाँदा हाल को जाणे...’ और आकाश मर्माहत होकर अविरल अश्रु-धारा से रो रहा था। वह भी रोने लगी।

इस प्रकार मुसकान और आँसू, सुख और दुख की आँखमिचौनी में फूल के जीवन का एक महीना और कट गया; किंतु वह दिन पर दिन अधिक दुर्बल होने लगी। बोधासिंह चिंतित हो गया। एक दिन वह डाक्टर को बुला लाया। डाक्टर ने परीक्षा करके कहा—‘कोई चिंता की बात नहीं। गर्भावस्था के कारण इनका मन कभी कभी व्यग्र हो जाता है। वैसे कोई खास रोग नहीं है। हाँ, दिल कमजोर है, ताकत की दवा दे रहा हूँ.....।’

डाक्टर के जाने के बाद बोधासिंह ने फूल से हँसते हुए कुछ कहा। उसकी आँखों में उल्लास था। फूल सुनकर चुप हो रही; उसकी आँखों में थी विषाद और विवशता की गहरी छाया।

मातृत्व स्त्री-जीवन का शृंगार है; किंतु फूल संहार की रूप में उसकी कल्पना करने लगी। निहाल—वसंतसिंह की जीवित-जागृत स्मृति—उसके निर्धन जीवन को निहाल करने के लिये था ही, फिर उसे माता बनने की आवश्यकता क्या थी? किंतु वह विवश थी। दुर्भाग्यवश प्रतिकूल परिस्थिति में फँसकर उसके शरीर के विकार से उसकी आत्मा की हार हुई। उसका आंतरिक जीवन दुखी हो गया। वह अपने आप से घृणा करने लगी और बोधासिंह की ओर रूखी पड़ गई। इस मानसिक अवस्था में उसे कुछ नहीं सुहाता था। प्रायः कल्पना में झूठी सी चुपचाप बैठी रहती थी।

एक दिन दोपहर में घर के काम-काज से निपटकर फूल अपने विचारों की उधेड़बुन में लगी हुई थी। उसका निहाल घुटनों के बल सरकता हुआ घर के बाहर निकल गया और सड़क पर खेलने लगा। तभी कहीं से एक कार तीव्र गति से चली आ रही थी; निहाल मुश्किल से पाँच गज के फासले पर था। यह

देखकर सड़क पर चलते हुए एक सज्जन ने उसे दौड़कर उठा लिया; किंतु वह स्वयं मोटर की शपेट में आकर गिर पड़ा और उसकी टाँगें पहियों के नीचे दबकर टूट गईं। बाजार में कोलाहल मच गया। पचासों आदमी इकट्ठे हो गए। फूल भी शोरगुल सुनकर चौंक उठी और निहाल को पुकारती हुई घर के दरवाजे पर निकल आई। उसने देखा कि उसका निहाल मृत्यु के मुँह से बाल बाल बच गया है। उफ! कैसा बलिदान हुआ उसके बच्चे के लिये। फूल धन्यवाद देने के लिये आगे बढ़ना चाहती थी; किंतु अपने उपकारी की ओर देखते ही वह चीख उठी और बेहोश हो गई।

कुछ लोग बच्चे के रक्षक को मोटर में लिटाकर हास्पिटल की ओर ले चले। रास्ते में किसी ने पूछा—‘सिरदारजी, आपका किदर रहना है?’

‘क्वेटा’,—उसने उत्तर दिया। फिर शारीरिक और मानसिक पीड़ा से व्यथित होता हुआ बोला—‘पिछले भूकंप में मेरा सर्वनाश हो गया, स्त्री मर गई। सब कुछ नष्ट हो गया। मैं भी अपने मकान के खंडहर में दब गया था, फिर न जाने कैसे बच गया, अभाग! मैं...!’ उसका कंठ रुँध गया, नेत्र सजल हो गए—‘भाई जी’ प्रश्न करनेवाले की तरफ कातर दृष्टि से देखकर कहने लगा—‘वह देवी थी, प्रेम की देवी, रूप की देवी; उसके बिना दुनिया सूनी हो गई। मैं जगह जगह भटककर थक गया। आज मोटर से दबकर मर जाता, तो उसके पास पहुँच जाता।’ वह फूट फूटकर रोने लगा।

इतने में कार हास्पिटल पहुँच गई। घायल को तुरंत आपरेशन रूम में ले जाया गया। डाक्टर ने रजिस्टर में लिखा—“सरदार बसंत-सिंह—मोटर ऐक्सिडेंट—सीरियस—”

उधर फूल की बुरी दशा थी। उसकी आत्मा बसंतसिंह में विलीन होने के लिये गोली खाए हुए मृग की भाँति तड़प रही थी। प्रेम तरसता हुआ, तड़पता हुआ आग्रह कर रहा था—‘फूल चल, बसंत आ गया!’ किंतु लोकाचार उसके भावी मातृत्व के रूप में कह रहा था—‘नहीं, तू पतित है, वह तुझे स्वीकार नहीं करेगा!’ उसके अंत-स्तल में एक द्वंद्व मचा हुआ था—करुण, दारुण, विह्वल। जीवन में एक भयंकर बवंडर उठ रहा था, प्राणों में जैसे प्रलय हो रहा हो!



## दो रेखाएँ

[ श्री यमुनादत्त वैष्णव ]

[ १ ]

दस प्लेट और दस के दस साफ । किसी में भी चित्र नहीं आया । बीस दिन से वह उस प्रयोग को दुहरा रहा था । यह 'रथेनम्' नामक नए आविष्कार किए तत्त्व का किरण-चित्र<sup>१</sup> उससे खिंचता ही न था । विलसन, विलेस्की और उसे साथ ही उन तीनों नए पदार्थों का किरण-चित्र-खींचने को कहा गया । विलसन ने तो दस ही दिन बाद 'युरेनम' का, जो उसे अन्वेषण के लिये दिया गया था, 'किरण-चित्र' खींचकर दे दिया । विलेस्की भी 'ओड्रम' का चित्र दे चुका था । अब उसे धोकर, छापकर देना भर शेष रह गया था ।

विलसन, विलेस्की और राय, तीनों डाक्टर चेडविक की अन्वेषणशाला में काम करते थे । चेडविक की प्रयोगशाला में काम करना ही एक बड़े गौरव की बात थी । नेटर नामक स्पेन के एक वैज्ञानिक ने तीन वर्ष तक उसकी प्रयोगशाला में शीशियों और यंत्रों को साफ करने में ही गौरव समझा था । सारे महाद्वीप के वैज्ञानिक एक बार उसके यंत्रों और प्रयोग-प्रणालियों को देखने लिये लालायित रहते थे । प्रत्येक वर्ष उसके साथ काम करनेवालों के चुनाव के लिये दुनिया के

---

१. किरण-चित्र को वैज्ञानिक भाषा में स्पेक्ट्रम लाइन कहते हैं । भिन्न भिन्न पदार्थ इन चित्रों से पहचाने जाते हैं ।

सभी विश्वविद्यालय अपने बड़े बड़े वैज्ञानिकों को भेजते थे। चेडविक उन सबमें से सबसे अच्छे तीन विद्वानों को छाँटकर अपनी गवेषणाओं को उन्हें समझाता था और उनकी सहायता से नई-नई वस्तुओं का आविष्कार करता था।

राय, विलेस्की और विलसन दोनों से बढ़कर था। चेडविक उसे बहुत चाहता था। जिन प्रयोगों में विलसन और विलेस्की कई दिन लगा देते, उन्हें वह घंटों में समाप्त कर सकता था। यंत्रों के संचालन में तो वह इतना दक्ष था कि गलती पर ही उसका हाथ जा लगता था; पर इस बार वह बिल्कुल पिछड़ गया। उससे 'रूथेनम' का किरण-चित्र खिंचता ही नहीं।

वह सोच रहा था, यदि इस बार भी न निकला, तो जाकर चेडविक से कह दूँगा कि 'रूथेनम' का किरण-चित्र नहीं उतर सकता। उसने फिर अपने यंत्र को ठीक किया। विद्युत् का 'आर्क' जलाया। रूथेनम की उस छोटी नली को उसके संमुख रखा। चारों ओर से प्रकाशछिद्र बंद करके फोटोग्राफ के 'प्लेट' को चढ़ाया। तीन घंटे तक वह इसी प्रकार अंधकार में रहा। बीच बीच में उसने आर्क की ज्योति बढ़ा दी। उसका सिर घूम रहा था; पर उसे उस चित्र के अतिरिक्त कुछ धुन ही नहीं थी। वह मन ही मन कह रहा था—'यदि इस बार भी चित्र न उतरा, तो चेडविक मेरे विषय में क्या सोचेगा? विलसन और विलेस्की के सम्मुख कुछ भी न रह जाऊँगा।'।

'प्लेट' धोया गया तो उसमें दो पतली सी रेखाएँ साफ थीं।

---

१. किरण-चित्र साधारण चित्रों की भाँति क्षण भर में नहीं खींचे जा सकते।

[ २ ]

जिस समय राय ने उस प्लेट को लेकर चेडविक के कमरे में प्रवेश किया, उस समय वह विलसन को एक नया प्रयोग बतला रहा था। राय ने अपने ग्यारहों किरण-चित्र उसके सम्मुख रखते हुए कहा—  
“बड़ी कठिनता से ग्यारहवीं बार यह चित्र निकला है। ‘केलसियम’ के किरण-चित्र की भाँति पाँच हजार तीन सौ और चार सौ एंग्स्ट्रॉम के बीच में है।”

चेडविक ने राय के एक एक शब्द को ध्यान से सुना। उसने फिर एक के पश्चात् एक उन सब काँच के प्लेटों को देखा और अंत में उन दो रेखाओं को। कुछ देर सोचकर वह बोला—“केलसियम के चित्र की तरह?”

राय को आज उसके शब्दों में परिवर्तन मालूम हुआ। उसे कभी भी राय के प्रयोगों पर संदेह न होता था। वह उसके किसी भी प्रयोग को दो बार कर लेने से संतुष्ट हो जाता है। जो कुछ वह करता, चेडविक सहर्ष उसे स्वीकार कर लेता।

“राय, एक बार और करके देखिए।”—उसने ग्यारहवें काँच को लौटाते हुए कहा।

राय के लिये यह कम लज्जा की बात न थी। विलेस्की और विलसन दोनों नए प्रयोग करने लग गए थे।

कमरे में आकर उसने फिर विद्युत ‘आर्क’ को जलाया। रुथेनम की सारी नली को ठीक प्रकार से देखा। सारे चित्र लेकर उनकी परीक्षा ली। एक नए ‘प्लेट’ को फिर ‘कैमरे’ में लगाया।

तीन घंटे—बस, फिर वह रुथेनम के चित्र को चेडविक को दिखलायेगा और आज ही नया प्रयोग आरंभ कर देगा। विलसन और

विलेस्की उससे आगे नहीं बढ़ सकते। बड़ी कठिनता से तीन घंटे व्यतीत हुए। 'प्लेट' धोया गया; पर इस बार भी उसमें कोई चित्र न था।

उसने फिर सब यंत्रों को परीक्षा ली। कहीं कोई त्रुटि न थी। 'क्रोसवायर' के तार ठीक स्थान पर थे। 'शटर' ठीक सामने था। नली विलकुल नब्बे अंश का कोण बना रही थी। 'आर्क' में बोल्टेज भी ठीक चार सौ था। नया प्लेट लगाया गया। तीन घंटे। पर फिर उसमें चित्र न दिखलाई दिया।

उसने यंत्र की फिर छानबीन शुरू की। समतल करनेवाले यंत्र में हवा का बबूला कुछ एक ओर था। थोड़ा सा, मिलीमीटर के दो एक शतांश। उसे विश्वास हो गया कि यह गलती होगी। पेंच को घुमाकर उसने उसे यथास्थान रखा। इसी समय टन टन टन घड़ी ने भी तीन बजाए। वह सोचने लगा—'बस तीन ही घंटे तो और हैं। छः बजे चित्र खिच जायगा। सात बजे वह उसे चेडविक के सम्मुख रख देगा, कल ही नया प्रयोग।'।

सात बजे उसने प्लेट धोकर छापा। फिर भी वह ज्यों का त्यों। विलकुल पारदर्शक—उसमें कोई रेखा ही न थी।

उस रात वह नहीं सोया। दस बजे उसने एक और 'प्लेट' धोया, वह भी स्वच्छ। इस बार उसने आर्क की ज्योति बढ़ा दी। छः सौ वोल्ट। एक बजे जो 'प्लेट' निकला, वह भी साफ था। दो बजे उसने फोटोग्राफ के प्लेटों के बंडल से एक खूब तेज ( सुपर-सेंसिटिव ) प्लेट निकाला, जिसमें चित्र विलकुल मंद प्रकाश में भी ठीक उतारे जा सकते थे। सात घंटे—दूने से भी अधिक समय तक—उसने उसे कैमरे में रखा।

‘नौ बजे प्रातःकाल चेडविक आएगा। फिर नया प्रयोग विलेस्की और विलसन के साथ...’

आठ बजे उसने ‘पायरो-गेलौल’ के संपृक्त घोल में प्लेट धोया। नहीं। इस बार भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं था।

‘एक बार और, अंतिम समय, बस फिर चेडविक से कह दूँगा कि इसका चित्र नहीं खिंच सकता; पर संभव है आर्क में त्रुटि हो।’ उसने उसे बदलकर एक नया चित्र लिया।

बारह बजे उसने इन पाँचों नए रीते काँचों को मेज पर रखते हुए कहा—“रुथेनम क्रिटन की भाँति एक ‘आलसी’ पदार्थ है। इसका चित्र नहीं निकल सकता।”

हँसते हुए चेडविक ने कहा—“हाँ, मैं भी यही सोचता था। यह क्रिटन के साथ ही तो पाया गया था। लेकिन वे दो रेखाएँ क्या थीं? उनका भी पता लगाना आवश्यक है। शायद उनसे किसी नई बात पर प्रकाश पड़े।” उसी पुराने ग्यारहवें प्लेट को उठाते हुए उसने कहा—“रेखाएँ तो बिलकुल साफ हैं, इन्हें अवश्य ढूँढ़ना चाहिए।”

उस दिन राय ने चार चित्र और खींचे; पर किसी में भी वे रेखाएँ न निकलीं। किरण-चित्रों की सारी पुस्तक को उसने देख लिया। आज तक जितने भी पदार्थों का विश्लेषण हुआ है, किसी में भी ऐसी रेखाएँ न थीं।

उसने सोचा, शायद फिर उसी पुराने आर्क को लेकर चित्र आ जाय, ऐसा भी किया जाय; पर फिर भी प्लेट निर्मल था। उसमें एक भी निशान न था। दो दिन उसे रात को बिलकुल नींद न आई।

एक एक चीज, एक एक पेंच और एक एक प्लेट को बदल कर नए नए चित्र-खींचना; पर किसी में भी सफलता न होती।

वह फिर चेडविक के पास गया। उसके उतरे हुए चेहरे को देखकर चेडविक सब समझ गया। इसी समय विलेस्की भी एक नए प्रयोग को समाप्त करके दिखलाने लगा। राय उसे देखते ही मारे लज्जा के गड़ सा गया और अपने को ही धिक्कारने लगा।

चेडविक ने उसे संबोधित करते हुए कहा—“उन दो रेखाओं का क्या अभी तक पता नहीं लगा है?”

सिरनीचा किए हुए उसने कहा—“नहीं, बीस चित्र और खींच चुका हूँ; पर किसी में भी वे रेखाएँ नहीं आतीं।”

“पर उन्हें यों ही छोड़ देना भी तो ठीक न होगा।” चेडविक कहने लगा—“वैज्ञानिक का कार्य तो बाल की खाल निकालना है। साधारण सी घटनाओं के पीछे कभी कभी ज्ञान का भंडार छिपा रहता है। रोजन ने यदि अपने चावी के गुच्छे के उस चित्र की छानबीन न की होती; तो आज ‘एक्स-रे’ भी नहीं होता। वोल्टा ने मेढक की टाँगों के उस छोटे से ‘क्लिक’ शब्द का भुला दिया होता, तो आज बिजली कहाँ होती? केवेंडिश ने उस हवा के सूक्ष्म बबूले को, जो कास्टिक सोडा में घुलता ही न था; छोड़ दिया होता, तो आज वैज्ञानिक ‘हीलियम’ जैसे अमूल्य पदार्थ से अनभिज्ञ ही रह जाते। आप मेरो प्रयोगशाला में धैर्य और परिश्रम का पाठ पढ़ने आए हैं। लगातार काम में लगे रहने से ही सफलता मिलती है। जाओ, फिर उन रेखाओं को ढूँढ़ने का प्रयत्न करो।”

विलसन और विलेस्की भी वहीं पर थे।

[ ३ ]

एक सप्ताह हो गया। विलसन दो नए प्रयोग समाप्त कर चुका था। विलेस्की कुछ अस्वस्थ था। राय था वहीं, अपनी अँधेरी कोठरी में। वह तब से चेडविक के पास भी न फटका। रात दिन नए नए चित्रों को खींचता; पर कभी भी वे रेखाएँ न निकलतीं। कभी किसी यंत्र को उलटता, कभी किसी पेंच को बदलता; कभी आर्क को टेढ़ा करता, कभी नली को; पर कभी वे दो रेखाएँ न निकलतीं।

उस दिन चेडविक उसे देखने गया, उसने कमरे का दरवाजा खटखटाया; पर कुछ भी उत्तर न मिला। शायद इस समय वह 'प्लेट' चढ़ा रहा हो, वह अपने कमरे में लौट आया। एक घंटे पश्चात् चेडविक ने फिर आकर दरवाजा खटखटाया; पर फिर वही सन्नाटा। उसने नौकर को बुलाकर पूछा कि वह कब से उसके कमरे में नहीं गया।

नौकर ने कहा—मैं दस बारह दिन पहले गया था, जब वे आपके कमरे में थे। कमरा साफ कर आया था। वे अपने होते हुए मुझे कभी कमरे में नहीं आने देते हैं। जब बाहर जाते हैं, तब साफ करने का हुक्म मिला है; पर इन दस-बारह दिनों से वे बाहर ही नहीं निकले हैं।

दरवाजा तोड़कर कमरा खोला गया। 'कार्बन एकोषिड' (कार्बन मोनोक्साइड) नामक विषैली गैस से कमरा भरा था।

नौकर ने कहा—उस दिन भी इसी गैस का नल कुछ 'लीक' कर रहा था, मैं इसे बंद कर गया।

चेडविक ने देखा, मेज पर प्लेटों का ढेर था। फर्श पर वह लुंजपुंज सा पड़ा था। अंतिम चित्र जब धोया गया, तो वही दो रेखाएँ साफ थीं।

×

×

×

रसायन की पुस्तक में लिखा है—‘रुथेनम’ और ‘कार्बन एकोषिड’ मिलकर एक नया पदार्थ बनाते हैं, जिसके कारण-चित्र में ५३११ और ५३६२ एंगस्ट्रॉम की दो रेखाएँ पाई जाती हैं। इनका आविष्कार चेडविक ने अपनी प्रयोगशाला में किया था। इसका नाम है—‘चेडविक लाइंस’।

— — —

## नुमायश

[ श्री हरदयाल 'मौजी' ]

नुमायश का अहाता बनकर तैयार हो चुका था। बीच-बीच में फुलवारी की क्यारियाँ लग चुकी थीं। दूकानों और बाजारों की व्यवस्था भी करीब करीब हो ही गई थी। कुछ सज्जधज का काम अभी कहीं कहीं बाकी था। मिस्त्री बिजली का तार लिए घूम रहे थे। कुछ पेड़ों पर चढ़े बल्ब टाँकने में लगे थे। रविशों पर सुखी बिछ रही थी। बड़े गेट को सजाया जा रहा था।

संतू, लगभग सात वर्ष का एक लड़का जो कुछ ही दूर पर अंधी माँ के पास बैठा था, टकटकी लगाए यह सब देख रहा था, बोला—  
'माँ !'

'हाँ।'—माँ बोली।

'नुमायश होगी यहाँ ?'

'क्यों ?'

'पारसाल की तरह सब हो रहा है।'।

'कोई खेल आया होगा।'।

'नहीं, माँ ! लोग कहते जा रहे थे।'।

'सच ?'

'हाँ।'।

'होती होगी। अच्छा है, दो पैसे मिल जाया करेंगे।'।

'जैसे पारसाल, ऐं माँ !'

'पारसाल तुमने हमें टिकट नहीं दिलाया था।

‘कैसा टिकट ?’

‘नुमायश का ।’

माँ ने कुछ उत्तर न दिया ।

‘क्यों माँ !’ वह फिर बोला ।

वह फिर चुप थी ।

‘बोलती नहीं ।’

‘बेकार की बातें मुझे नहीं आती ।’

‘अच्छा, दिलाया था ।’

‘नहीं दिलाया था ।’

‘क्यों ?’

‘चाहती नहीं थी ।’—हँसते हुए उसने कहा ।

संतू चुप हो रहा । जानता था, खिन्न होने पर ही माँ ऐसे हँसती है । उसकी निगाह फिर उस अहाते पर टिक रही । कुछ देर बाद अकुलाया सा फिर बोला—‘अच्छा, माँ !’

‘हाँ ।’

‘अब की दिला दोगी ?’

‘दिला दूँगी ।’—अन्यमनस्क सी हुई वह बोली ।

‘नहीं ?’—उसने फिर पूछा ।

‘दिला दूँगी, कहती तो हूँ ।’—माँ ने तब जोर से कहा और मुस्कराहट को दबाने के प्रयत्न में दोनों ओठ जोर से सटा लिए ।

‘कहती ही हो बस ।’—संदेह से माँ के ओठों की तरफ देखता हुआ वह बोला ।

‘ऐसा ही सही ।’ माँ ने कहा ।

‘अच्छा, सच बताओ माँ, दिलाओगी कि नहीं?’—जी भर का जोर लगाकर संतू ने विनय की।

हृदय की इस अपील पर अंधी चुप रह गई। झूठ बोलना भी उतना ही कठिन हो गया, जितना सच।

‘क्यों माँ!’—संतू ने फिर पूछा।

‘अच्छा, देखूँगी।’—गंभीर होकर अंधी बोली, जैसे एक बड़ा बोझ उसके ऊपर आ गया हो।

संतू प्रफुल्ल हो उठा और एक ओर से कुछ आदमियों को आते देख माँ को कुहनी लगाई। इशारा समझकर अंधी ने कहना शुरू किया—‘बाबू अर्धा मुहताज को, बाबू.....’

दो दिन बाद। नुमायश का उद्घाटन हो रहा था। गेट पर बहुत भीड़ थी। सड़कें भरी आ रही थीं। रंग-बिरंगी पोशाक में सँवारे हुए स्त्री, पुरुष और बच्चे आतुर होकर गेट की ओर बढ़ रहे थे।

एक तरफ जहाँ मोटर रुकती थीं, अंधी भिखारिन संतू का हाथ पकड़े इधर-उधर डोल रही थी। वह कहती जाती थी—बाबू! अंधी मुहताज को.....’

बाबू मोटरों से उतरते और बचकर एक ओर से निकल जाते। वह कहती रहती—‘बाबू! अंधी मुहताज को.....’

संतू कभी गेट की ओर देखता, कभी पों-पों करती हुई मोटरों की ओर और कभी उत्सुख हो उमड़ती हुई उस भीड़ की ओर। बीच बीच में बुढ़िया के मुँह की तरफ भी देख लेता—जैसे कुछ कहना चाहता हो। उसका बात उसकी आँखों पर आ अटकी मालूम होती थी; पर अंधी निर्विघ्न चिह्ना रही थी—‘बाबू.....’

रात के ग्यारह बज गए। संतू माँ का हाथ पकड़े घूमता ही रहा। आखिर वह थक गया। खड़ा रहना मुश्किल मालूम होने लगा। बोला—‘माँ !’

‘हाँ !’

‘कितने पैसे हो गए ?’

‘तू नहीं जानता क्या ?’

‘चार अभी नहीं हुए।’

‘हो गए।’

‘तो टिकट मिल जायगा।’

‘मिल जायगा पर रोटी नहीं।’—अंधी हँसकर बोली।

संतू समझ गया। वह चुप हो गया। उसकी निगाह माँ के मुँह पर थी। कुछ सोचता सा फिर बोला—‘रोटी नहीं खाऊँगा।’

‘अच्छा भैया ! पेट भर तो कभी यों ही नहीं मिलता, आज पूरा ही फाका सही।...पर संतू ! मुझसे तो उठा न जायगा। देख लो, कुछ आज ही की बात नहीं, कल को भी किसी के पैर चाहिए।’

संतू ने कुछ न कहा, और अंधी फिर उसी रट में लग गई और लगी रही, जब तक कि वहाँ सुनसान न हो गया।

प्रतिदिन शाम को वैसी ही भीड़ होती थी। वैसी ही स्त्रियों, पुरुषों, बच्चों का एक समुद्र आनंद से हिलोरें लेता था। संतू भी उन्हीं में हर रोज घूमता रहा। स्वयं दर्शकों में उसकी गिनती भले ही न थी; पर दर्शकों का भी एक दर्शक वह था। उनको देख देखकर उसे कुछ नुमायश का आनंद आ जाता था। उनमें उसका हित था। उनकी वृद्धि और समृद्धि को देखकर वह खुश ही होता था। जैसे जैसे

भीड़ बढ़ती, जैसे जैसे मोटरों और एक्का बग्घियों की कतार लम्बी होती, उसकी सोई हुई आशा भी वैसे ही वैसे जगती जाती और उसके जल्दी जल्दी उठते हुए कदमों के पीछे अंधी घिसटने लगती ।

किंतु गेट से निकलते हुए सज्जनों को भी वह देखता था—बहुत से हम-उम्र होते थे, कुछ अधिक उम्र के और कुछ कम उम्र के । कोई कुछ तारीफ करता निकलता, कोई कुछ । वह परेशान सा अंधी को लेकर उनके सामने हाजिर होता । वे बचकर निकल जाते, वह खड़ा देखता रह जाता । पर वह एक जगह खड़ा नहीं रह सकता था, क्योंकि बुढ़िया का हाथ उसके हाथ में बराबर चलते रहने का तकाजा किया करता था ।

कई दिन हो गए थे । नुमायश भर रही थी । आज कुछ ज्यादा लोग आ रहे थे । खरीदारी भी अधिक हो रही थी । दूकानदारों ने चीजें आज पहले से कुछ सस्ती कर दी थीं । लगभग सभी लोग कुछ न कुछ हाथ में लिये गेट से निकल रहे थे । कुछ गोद भरे चले आ रहे थे और कुछ के पीछे कुली लदे थे । अधिकांश बच्चों के हाथों में खिलौने थे । संतू भी अपनी आशा का टूटा सा खिलौना लिए वहीं मौजूद था । आज वह विशेषतः दौड़-धूप करता दिखाई दे रहा था । माँ ने वादा किया था कि अगर चार भी पैसे मिले, तो वह उसे दे देगी । जैसे तैसे भीड़ को चीरता हुआ जल्दी जल्दी एक से दूसरे सज्जन के सामने वह अपनी अंधी माँ को पेश कर रहा था । माँ चिल्ला रही थी—‘बाबू अंधी मुहताज को—’

पर वह समय ही ऐसा मात्ूम होता था कि किसी को उस अंधी के हाथ की ओर देखने की गुंजायश या फुर्सत न थी ।

संतू, इधर से उधर, उधर से इधर, ताना बिनता ही रहा । बहुत देर हो चली । उसने बार बार माँ के मुँह की ओर देखा कि शायद

कुछ और उपाय बतलाए; पर पूछने की हिम्मत न हुई। भीड़ हल्की हो रही थी। आ कम रहे थे, जा अधिक। संतू को वह दिन भी जाता ही मालूम हुआ। आखिर वह बिना पूछे नहीं ही रह सका। ६

बोला—‘माँ !’

‘हाँ ।’

‘पैसे हो गए ?’

‘हो गए ।’

‘ला तो फिर ।’

‘बस एक पैसे की कमी है ।’

‘कमी है !’

‘हाँ ।’

संतू चुप हो रहा। किंतु उसकी खामोशी की वजह समझकर माँ ने कहा—‘और देखो शायद मिल जाय ।’

संतू फिर अंधी का हाथ पकड़कर इधर-उधर घूमने लगा। वह चिल्लाने लगी—‘बाबू ! एक पैसा ।’

वह बहुत बेचैन हो रहा था। जिन जिन बाबुओं को वह मोटर की ओर जाते देखता, जिन जिन को बहुत मोटा ताजा पाता, या जिन जिन के बच्चे बहुत खेल खिलौने लिए गेट से निकलते, नज़र पड़ते उन्हीं की ओर उसके पैर खुद बखुद चल पड़ते। पर वे लोग अपने ही में कुछ इतने मशगूल मालूम होते कि उस ओर उनका ध्यान ही न जाता।

जानेवाले आगे को बढ़े ही चले जाते थे। मोटरवाले मोटर में बैठ आँखों से ओझल हो जाते थे। अंधी माँ को खबर भी न होती थी कि कब कौन गया। वह उसी एक ओर मुँह किए चिल्लाती रहती, जब तक कि संतू के हाथ का इशारा न मिलता।

संतू बहुत बेचैन था। एक पैसे की कमी थी। किसी एक बाबू का इशारा बाकी था। उसी की वह खोज में था; पर कोई मिल नहीं रहा था। यह साल भी यों ही चला जायगा, यह सोच सोचकर वह गेट की तरफ देख लेता था। आखिर उसने देखा, एक बाबू बुकिंग आफिस पर खड़े टिकट ले रहे हैं। संतू ने शट अंधी को वहाँ ले जा खड़ा किया। अंधी ने जैसे कलेजे से पुकार कर कहा—‘बाबू! एक पैसा अंधी को भी।’

किंतु बाबू खिड़की से टिकट खरीद, हाथ में ले गेट की ओर घूमने लगे। संतू से न रहा गया। उसका मुँह अनायास ही कह उठा—‘बाबू!’

‘क्यों?’

‘क्या आज नुमायश न रहेगी?’

‘कैसे?’

‘सामान जा रहा है।’

‘तो?’

‘हमने नहीं देखी।’

‘अगले साल देख लेना।’—अंधी बोली और ठहाका मारकर हँस पड़ी। संतू उसके मुँह की ओर देख रहा था।

‘हमने नहीं देखी।’ अंधी ने फिर संतू की बात को दुहराया, और ओर से हँस पड़ी। संतू देख रहा था।



## रूप

[ श्री रामकृष्णदेव गार्ग, बी० ए० शास्त्री ]

[ १ ]

मेरे रायबहादुर मामा ३८ वर्ष की उम्र में दूसरी शादी करके आए थे। अपनी नई मामी से कुछ दूर बैठा हुआ मैं उन्हें एकटक देख रहा था। उनकी बड़ी बड़ी आँखों में तरल हँसी छलछला रही थी, गुलाब जैसे भरे हुए चेहरे से यौवन और सौंदर्य महक महककर फूट रहा था। खूब याद है, उन आँखों में कोई उनींदापन नहीं था, जिसे हम मादकता कहते हैं, और न चेहरे का कटाव ही किसी ऐसी कोमल रेखाभंगी पर हुआ था, जो रूप में कला की मात्रा निर्धारित करती है। एक निखरा हुआ सौंदर्य, एक प्रबल आकर्षण केवल वहाँ था, जो आँखों को कुछ समय के लिये मानों पकड़कर बैठ जाता था।

यह उस समय की बात है, जब मैं चौदह बरस का था। यौवन अपनी उमंगों के लिये भूमि तैयार कर रहा था; पर हृदय ने शैशव के कुतूहल का दामन अभी नहीं छोड़ा था। मैं मामी को देख रहा था—विस्मय से, आनंद से,। कहीं टीस भी चल रही हो, तो याद नहीं; पर इतना अब भी कह सकता हूँ कि उस समय कुछ ऐसा अनुभव हो रहा, जैसे दो आदमियों ने मुझे कसकर पकड़ लिया हो और तीसरा गुदगुदा रहा हो।

विवाह खतम हो जाने के बाद अपने पिताजी के साथ मैं घर चला आया, और चंद दिन बाद मामी भी अपने नैहर को बिदा हो गई होंगी। लेकिन इन थोड़े से दिनों में ही उनके अत्यंत रूपवती

होने की बात सारे शहर में फैल गई। जब तक वे समुराल में रहीं, मुँह दिखाई की रस्म के लिये आई औरतों का वहाँ ताँता बँधा रहा। मामाजी का रसूल शहर में यों ही काफी बढ़ा चढ़ा था। फिर कितनी ही औरतें तो केवल अपना कुतूहल शांत करने के लिये ही वहाँ आतीं और मुँह भर भरकर तारीफ करती हुई लौटतीं।

## [ २ ]

इस प्रशंसा का कितना अंश सच्चे हृदय से निकला था और कितना स्त्रीजाति की सहज ईर्ष्या से संबंध रखता था, यह उस वक्त मैं नहीं जान सका। लेकिन बाद में वहीं देख लिया कि स्त्री, स्त्री से उसी तरह मिलती है, जैसे दो नंगी तलवारें। दो साल बाद मामाजी के यहाँ फिर मेरा ऐसे ही किसी मौके पर जाना हुआ। उस वक्त भी औरतों का यहाँ खासा जमघट था। मामाजी उनकी आवभगत में अपने आप को भूली हुई थीं। किसी को वह खिला पिला रही थीं, किसी का स्वागत कर रही थीं, किसी से बिदा ले रही थीं और किसी के दुःख सुख की सुन रहीं थीं। लेकिन मैंने देखा, इन सबके बीच उनकी निंदा का एक राग अविच्छिन्न रूप से उस छोटे समाज में छिड़ा हुआ था—कहीं कानों कानों में, कहीं स्पष्ट शब्दों में और कहीं केवल इशारों और भ्रू-नर्तन में। मामा के प्रत्येक शब्द से लेकर उनकी चाल ढाल और हरकत तक ईर्ष्या की निहाई पर आलोचना के कड़े हथौड़े से ठोक ठोककर परखे जा रहे थे। संभव है, उनमें से किसी एक विषय पर उनकी रायें कुछ देर के लिये दो हो गई हों; पर उनके रूप के संबंध में सबकी यही एक धारणा थी कि चंद राज बाद वह पाउंडर की सफेदी की तरह फीका पड़ जायगा।

मामाजी को इस सबकी खबर थी या नहीं, कुछ नहीं मालूम; लेकिन अब देखता हूँ, वह जैसे इन सब आक्षेपों का जवाब अपनी

किसी हलकी सी मुसकान में किसी कोमल संबोधन में, या एक मधुर दृष्टिपात में ही चलते चलते दे जाती थीं, और वह जवाब उनके प्रतिपक्षी के हृदय में गहरा पैठकर उसे निःशस्त्र कर देता था ।

अपने सौंदर्य की शक्ति का उन्हें पूरा ज्ञान था—शायद सभी स्त्रियों को सहज रूप से थोड़ा-बहुत होता है; पर औरों को केवल उनका ज्ञान होता है, मामीजी को उस पर पूरा पूरा नियंत्रण भी था—उसके प्रत्येक उतार चढ़ाव पर, उसके हलके से हलके शोड पर । चित्रकार जैसे मात्र एक रेखा खींचकर अपनी व्यंजना को हलकी या गहरी कर देता है और कभी कभी चित्र के प्रभाव को बदल ही देता है, उसी प्रकार मामी जी भी एक सुरमई साड़ी पहनकर अपने रूप के टोन को कसकर एकदम ऊँचा कर सकती थीं, कभी छापे की एक सफेद धोती में ढककर उसे मधुरमुलायम कर देती थीं और कभी किसी खास आभूषण की झलक से ही उसके प्रभाव में रंग भर सकती थीं ।

यही एक रहस्य था, जिसके बल पर सौंदर्य की उस दुनिया में वे प्रतिमा होकर पुजती थीं । मैं अब उनके यहाँ अक्सर जाता आता रहता था । बड़े हो जाने के कारण मेरे ऊपर से वे सब प्रतिबंध हट गए थे, जो पहले थे । आप सोचते होंगे, मैं मामी के ननिहाल जाता था । हाँ, ऐसी ही बात थी । मैं उनके रूप का पुजारी नहीं था—विद्यार्थी था । उसकी प्रत्येक रेखा का मैं अध्ययन करता । मेरा विश्वास था कि समय की कोई काली छाया सौंदर्य की उन किरणों को धुँधला नहीं कर सकती । तीन-चार साल बाद जब उनके लड़का हुआ, तो उनके घर में आनंद और उत्सव की बाढ़ सी आ गई थी; पर मैं जब उस सबमें शामिल होने के लिये घर से चला, तो दिल पर पत्थर सा रख गया था । डर रहा था, समय को जहाँ पहुँचते वर्षों लगते, गृहस्थी की एक साधारण सी घटना वहाँ छल्लोंग में ही तो नहीं पहुँच गई ।

मामीजी मुझे पहचानती थीं। मेरी आँखों में अपने आपको वे जैसे पढ़ा करती थीं। उस दिन प्रसूति-गृह की देहली पर खड़े होकर जब मैंने उनकी पानी पर तैरते हुए बुलबुलों जैसी आँखों से आँखें चार करके कहा “मामीजी, बधाई है”, तो वे थोड़ा सा मुस्कारई और फिर शेंप गईं। समझ गईं, ये बधाइयाँ उन्हें केवल पुत्रजन्म के उपलक्ष में नहीं दी जा रही हैं। इनका मतलब और भी गहरा है।

रूप की दौड़ में उन्हें परास्त करने में लिये उस शहर के बड़े बड़े घरों की औरतों में उस समय तक एक जबर्दस्त गुट बनकर तैयार हो गया था साड़ियों के नए नए डिजाइन मँगवाकर, शरीर पर हीरा मोती के आभूषणों की चमक चढ़ाकर, पालिश से दमकती हुईं घोड़ा गाड़ियों की खिड़कियों में से कभी बिजली की तरह झाँककर और कभी विशाल मोटर कारों के आतंक से बाजार की भीड़ को चीरकर लोगों पर अपनी धाक जमाने के इन लोगों के प्रयत्न बराबर जारी रहते थे। मामी भी इन प्रदर्शनों में कभी-कभी शामिल होती थीं; लेकिन इस तरह, जैसे उनका कोई प्रतिद्वंद्वी ही न हो, मानों वे खुद किसी लायक ही न हों। एक करोड़पति जिस प्रकार मामूली कपड़े पहनकर लोगों के इशारों के नीचे बाजार में पैदल निकल जाता है, ऐसी ही उनकी कुछ सादगी थी।

एक आँखों देखी घटना इस समय मुझे याद हो आई है। एक दिन शाम को बाहर से आकर मैंने देखा कि दरवाजे पर लैंडो खड़ी है। समझ गया, मामी नुमायश देखने जा रही हैं। ऊपर पहुँचा तो क्या देखा कि एक कोच पर दस-एक साड़ियाँ बराबर बराबर रखी हैं और उनके सामने खड़ी हुईं मामी उनकी तरफ ध्यान से देख रही हैं। पहले सोचा; जो बात हमेशा अनजाने ही तय हो जाया करती थी, आज उसी के लिये इतनी उधेड़बुन क्यों? और फिर पूछ उठा—आज ऐसी क्या खास बात है, मामी?

मामी—कल मैं कुँवर साहब के यहाँ सगाई में गई थी, मालूम है न ? वहीं यह तय हो गया कि आज नुमायश देखने चला जाय और अपनी अच्छी से अच्छी साड़ी में ।

मैं—अच्छी से मतलब क्या कीमत का है ?

मामी—कीमत, डिजाइन, रंग सभी कुछ आ गया । ये बातें कहने की नहीं हुआ करतीं । कल साड़ी का किसी ने नाम तक नहीं लिया था; लेकिन किसी न किसी प्रकार वहाँ के वायुमंडल में यह चैलेंज गूँज गया, और सबने इसे स्वीकार कर लिया ।

मैं—सबके स्वीकार करने से क्या मतलब ? चैलेंज तो एक को ही असल में दिया गया होगा ।

मामी मुसकराकर साड़ियों को पलटने लगीं, और मैं नीचे चला आया ।

### [ ३ ]

नुमायश पहुँचकर दूर एक कोने में खड़े होकर देखा, एक मनिहार की दूकान के सामने दिवाली सी जगमगा रही है । संख्या में वे आठ दस के करीब होंगी । सबकी आँखों में नुमायश का चाव था, चेहरों पर एक मधुर उद्दीप्ति । एक के बाद दूसरी दूकान को ठहर ठहरकर पार करती हुई वे एक दूसरे से ऐसी सरलता से हँस बोल रही थीं, जैसे सब एक ही क्यारी के तरह तरह के फूल हों । आपस में मिलने के इस दुर्लभ संयोग पर सब प्रसन्न दिखाई देती थीं । घर द्वार की चिंताएँ मानों पीछे छूट गई थीं, और संसार का कोई भी विकार उनके हृदय को छू तक नहीं गया था । कौन कहता कि उन्हें भी कोई उलझन सता रही है या उनकी वह हँसी जहर के झागों की तरह उमड़ उमड़कर बाहर नहीं आ रही है । बचकर निकली हुई कोई नजर, होठों की कोई

वक्र रेखा कभी कभी इस बात का पता भले ही दे देती हो, पर वह भी सिर्फ़ उन्हीं को। मेरा विश्वास है, घर के दर्पण को साक्षी करके उनमें से हरेक अपना अनिष्ट रूप लेकर चली थी, जो यहाँ प्रकाश की तरह फैलकर फीका हो गया। हर एक को मानों एक दूसरे की नजर चाट गई। उन सबको मालूम हो गया कि कहीं कोई त्रुटि रह गई है; जो इस जीवन में पूर्ण नहीं होगी। और जब नुमायश खतम कर चलने का वक्त आया, तब तो उनकी साड़ियों की चमक भी कच्चे रंगों की तरह उड़ गई। इस सबमें आदि से अंत तक जो कुछ एक जैसा बना रहा, वह थी मामी की खदर की एक मामूली साड़ी और उसमें टँका हुआ उनका सौंदर्य। मुझे नहीं मालूम, ऐसी सादगी से ऐसी पेचीदा लड़ाई अब तक किसी ने जीती हो।

## [ ४ ]

मामी के बारे में अब तक मैंने जो कुछ कहा है, वह जरा भी बढ़ाकर नहीं कहा। उसमें कुछ छूट भले ही गया हो, और जब इतना कहा है, तो उस लंकाकांड को भी क्यों न कह दूँ, जिसके बिना यह रामायण पूरी न होगी। दस बारह वर्ष और बाद की बात कर रहा हूँ यह। मामी उस वक्त तीस के आसपास थीं। उनके एक लड़का था, दो लड़कियाँ। दिन आए और वर्ष बनकर बीत गए। बीसों स्त्रियों पर उनके सामने यौवन आया और ढल गया, रूप आया और देखते देखते उतर गया। मामी भी बदल गईं; लेकिन प्रत्येक परिवर्तन अवस्था के अनुसार उनमें एक नई मोहिनी पैदा कर गया। इस बीच में कितने गुट उनके खिलाफ बन बनकर टूटे और टूटकर बने; किस प्रकार इर्ष्या और असूया की आग धधक धधककर अपने मकानों को ही खाक कर गई, इसकी कहानी लंबी है। इन आँखों ने सब कुछ देखा है—यौवन की आग में तपकर कुंदन की तरह तमतमाते हुए मामी को देखा है,

रूप के जल में ठंडा होकर निखरते हुए उन्हें देखा है और देखा है कि तीस वर्ष की अवस्था में भी वे अपनी दुनिया की एकछत्र रानी बनी बैठी हैं। परंतु जिसने यह सब कुछ देखा है, उसे एक दिन यह भी देखना बड़ा था कि वे निर्जीव की तरह पलंग पर पड़ी हुई हैं और उनकी तरफ आँखें उठाकर भी नहीं देखा जाता।

उन्हें देखते डर लगता था। चेचक के बड़े बड़े फफोले उनके रूप को पी पीकर जोंक की तरह फूल रहे थे। उनकी आँखें बंद थीं, गले से बोल नहीं निकलता था। देखते ही मेरे आँसू फूट निकले। मैंने कहा—“हे ईश्वर, या तो मुझे ही उठा ले या मामी को ही।”

मैं कैसे मरता ? ऐसे तो आज तक कोई नहीं मरा। और मामी... जब तक साँस है, तब तक आस भले ही टूट जाय, पर मोह नहीं छूटता। सब कुछ भुलाकर दिन रात उनकी सेवा में मैंने एक कर दिया। जो रूप कभी आँखों में समाए समाता नहीं था, उसी की लाश को हाथों की इन अँगुलियों से मैंने झाड़ झाड़कर फेंक दिया। कल की सी याद है, जिस दिन मामी ने अपने घायल पलक उठाकर मेरी ओर देखा था, उस समय बहुत कोशिश करने पर भी मैं अपने आँसुओं को न रोक सका। जी में आता था, मामी की चारपाई से सिर पटककर प्राण दे दूँ।

मामा रोते थे अपनी स्त्री के लिये; भुवन—उनका चौदह वर्ष का लड़का—रोता था अपनी माँ के लिये—माँ के एक प्यार के लिये। इन दोनों के लिये मामी जैसी भी उठ पड़तीं, उसी से वे निहाल हो जाते। लेकिन मैं...? मैं अपने आप से पूछता—‘मेरा आधार इतना भंगुर क्यों है ? क्या तेरा संबंध ऐसा हा निर्लिप्त नहीं हो सकता ?’ ठीक है। पर दो दिन पहले की मामी को मैं कैसे भुला देता ! कैसे तोड़ देता मस्तिष्क के उन तंतुओं को, जो उनकी स्मृति से टकराकर एकदम चीख उठते थे !

दस पाँच स्त्रियाँ रोज उन्हें देखने आती थीं। दो चार घोड़ा-गाड़ियाँ दरवाजे पर खड़ी ही दिखाई देती थीं। बड़े आदमियों का यह भी एक प्रोग्राम था, जो कि उसी तरह पूरा किया जाता था, जैसे शादी और ज्यौनार का। बहुत अच्छी पोशाक में वे आती थीं, मानो उनके साधारण रहन सहन का स्टैंडर्ड ही इतना ऊँचा हो। उनकी समवेदना का अभिनय भी बहुत ही ठोस और कलापूर्ण होता था। पुरानी चाल की औरतों की तरह वे आँसू नहीं बहाती थीं और न फैशन की नई पुतलियों की तरह उपेक्षा के भावों को ही बाहर निकालने देती थीं। मामी के पलंग के पास कुर्सी खींचकर जब वे उनकी दयनीय दशा को निर्वाक और निस्पद होकर देखतीं, तो उनकी आँखों में से संज्ञा को जैसे कोई छीन लेता था, असीम दुःख बर्फ के पर्च की तरह जमकर उनमें बैठ जाता था।

बड़े घरों को इन बातों में कमाल हासिल होता है, यह तो मैं उस वक्त भी जानता था; लेकिन अब समझ रहा हूँ कि शिष्टाचार के अभिनय की उस सफलता को प्राणदान जहाँ से मिलता था, आत्मसंतोष का वह ठोस भाव मामी की असहाय दशा से ही पैदा होता था। बहुत दिनों के बाद उनके लिये आज मैदान खाली हुआ था। उनमें से बहुतेरी तो वर्षों से पले हुए ईर्ष्या और डाह को समवेदना की गहरी आहों के साथ ही हृदय में से बाहर निकालकर वहीं की वहीं हलकी हो लेती थीं।

x

x

x

मामी अच्छी हो गई। उनका कंकाल पलंग से उतरकर घर में घूमने लगा। वे बदल गई थीं, इसलिए उन्होंने अपने चारों तरफ की दुनिया भी धीरे धीरे बदल डाली। उनके कमरे में घुसते ही सामने आलमारी में एक आदमकद शीशा जड़ा हुआ था। अब वह नदारद

था। उसकी जगह पर काठ का एक सादा किवाड़ लगा दिया गया था। इस आलमारी में उनकी शृंगार-सामग्री रखी रहती थी। अब वहाँ भुवन की किताबें तरतीब से लगी हुई थीं। कमरे की दीवारों पर एक भी तस्वीर नहीं थी। एक बौद्ध क्षपणक की भाँति कमरा उस घर में मूक, निःस्तब्ध खड़ा होकर तपस्या सी कर रहा था। विरुह नहीं, विकारहीन।

मामी से दो बातें कहीं, तो मालूम हुआ कि अब वे कहीं नहीं आती जाती हैं। जो कुछ हो गया, उसका उन्हें अफसोस जरूर था; पर मलाल रची भर नहीं। घर के काम काज में वे अब अधिक व्यस्त रहती थीं। नौकर चाकर सब जहाँ के तहाँ बने थे; पर उनका भार अब बहुत हलका हो गया था। गृहस्थी की सारी जिम्मेवारियाँ मामी ने अपने ही सिर पर ले ली थीं।

लेकिन चैन तो तब मिले, जब दुनिया लेने दे। थोड़े दिन बाद शहर के स्पेशल मजिस्ट्रेट दयाल बाबू के लड़के का विवाह बड़ी धूम-धाम के साथ आ पहुँचा। मामाजी के ये पुराने और अनन्य मित्र थे, इसलिये मामी के शामिल होने के लिये तकाजा भी बड़ा जबरदस्त था। शुरुआत के कुछ दिन तो मामी ने स्वास्थ्य की दुहाई देकर निकाल दिए; पर ज्यौनार के दिन उनकी एक न सुनी गई। उस दिन दयाल बाबू की स्त्री खुद आई और उन्हें अपने साथ ले गई।

मैं वहाँ पहले ही से मौजूद था। मामाजी ने अपनी मुस्तैदी का परिचय देने के लिये मुझे वहाँ पहले ही से हाथ बटाने के लिये भेज दिया था। इंतजाम क्या मैं वहाँ खाक करता, जहाँ सब कुछ पहले ही से जरूरत से ज्यादा सुव्यवस्थित था। पर दयाल बाबू ने फिर भी मुझे जनाने मुहकमे का निरीक्षक बना दिया और बरायनाम उसकी सारी जिम्मेवारी मुझे सौंप दी।

मुझे स्वप्न में भी यह आशा न थी कि मामी यहाँ आएँगी। पहले पहल जब मैंने उन्हें देखा, तो मैं पसीना पसीना हो गया। दूर एक एक कोने में वे बैठी थीं, शायद इस गरज से कि कम से कम औरतों को उनका पता लग सके; लेकिन उनके आने के थोड़ी देर बाद ही एक खासी भीड़ उनके चारों तरफ जमा हो गई। बातें करने के लिये एक नया विषय उस समाज को हाथ लगा। और एक कोने से दूसरे कोने तक मामी के संबंध की तरह तरह की बातें आ आकर मेरे कानों में टकराने लगीं।

छुंझला कर मैंने चारों तरफ देखा, जैसे अब तक कुछ देखा ही न था। रूप, आभूषण और नखरों का बाजार वहाँ खुला पड़ा था। जिसके पास रूप था, वह आभूषण की कमी द्वारा उसे प्रकाश में लाना चाहती थी; जिसके पास आभूषण थे, वह रूप के साथ उन्हें तोल तोलकर दिखला रही थी, और जिनके पास इन दोनों में से कुछ भी न था, उनके नखरे लाजवाब थे। मगर इनमें से दर्द प्रायः सबके सिर में हो रहा था। बहुतेरी इनमें बारहों महीने अस्वस्थ रहती थीं। इन्हें कोई खास शिकायत नहीं थी। एक असाधारण सुकुमारता से ये हमेशा परेशान रहती थीं।

मैं खड़ा खड़ा देख रहा था, मामी कैसे विश्रब्ध रूप में बैठी हैं, किस प्रकार निःशंक भाव से बातचीत कर रही हैं, मानों उनके जीवन का युगांतकारी परिवर्तन उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका हो। लेकिन ऐसा करने में अपनी दुर्बल आत्मा को उन्हें कितना कसना पड़ा होगा, यह किसे मालूम। वे ही स्त्रियाँ थीं, वही जगह, वही परिचित दुनिया, जिसे कभी वे मछली की तरह चीरती चली जाती थीं। आज उसीमें पैर जमाना कितना कठिन हो गया था। उनकी आँखों की उस आहार्य प्रसन्नता के पीछे से न जाने कितने आवेग फूट पड़ना

चाहते थे, स्वर का उस समय का हलकापन हृदय पर के कितने जबर-दस्त बोझ के नीचे से निकलकर बाहर आ रहा था। मैंने कहा, मामी, इस तरह तुम कब तक रह सकोगी ! क्यों तुम अन्न शस्त्रों से सुसज्जित इस विरोधी दल में इस तरह निहत्थी आकर खड़ी हो गई ? ऐसा न हो मामी, आत्मनियंत्रण के किसी कड़े झटके से तुम्हारे शरीर के सब स्नायु तंतु तुम्हारी मुट्ठी में से निकलकर फैल जायें !

वही हुआ।

पहले इधर उधर की बातें होती रहीं—शहर की, ब्याह-शादी की, मेले-तमाशों की; लेकिन धीरे धीरे सिलसिला वहाँ आकर उतर आया, जो मामी के लिये एक बहुत ही नाजुक प्वाइंट था। शिष्टता का थोड़ा, बहुत खयाल तो सबको था। सब जानती थीं, इस मर्म को स्पर्श करना निर्दयता होगी; लेकिन इतने जबरदस्त प्रतिबंध के नीचे भी कुत्-हल कब तक दबा पड़ा रह सकता था ? स्त्रियाँ शिष्ट हो सकती हैं, क्षमा कर सकती हैं और दया भी दिखला सकती हैं—पर 'स्त्रीत्व' को साथ लेकर ही। अनादि युग से जिन भावनाओं और संस्कारों ने उनकी रग रग में रमकर इस तत्त्व की सृष्टि की है, उन्हें वे कहाँ रख आती ?

एक अघेड़ उम्र की स्त्री ने उस सारे समाज का ध्यान अपनी ओर केंद्रित करते हुए कहा—“ऐसा मालूम होता है, माना बरसों में निकली हो। कितने दिन बीमार रहीं, बहू ?”

मामी की निगाह एक बार सामने की ओर उठी और फिर पलकों में जा छिपी। धीमे से स्वर में जवाब दिया—“लगभग डेढ़ महीने।”

कुछ स्त्रियों की छाती में एक गहरी साँस उठी और धीरे से उतर-कर वहाँ फैल गई। किसीने पीछे से कहा—“कैसा गुलाब सा रूप था,

देखते आँखों की भूख भागती थी, ईश्वर ने न जाने कब का बदला निकालने के लिये रख छोड़ा था।”

मामी के मुँह के गहरे गड्ढों में पसीने की बूँदें झलकने लगीं। उन्हें इतनी हिम्मत न हुई कि प्रतारणा के इन कड़े आघातों से बचकर एक बार रूमाल से उन्हें पोंछ लें। सिर नीचा किए वे चुपचाप बैठी रहीं।

इसके बाद शुरू हो गई उनके रूप की तारीफ, जैसे मरने के बाद दुश्मन की होती है। याद नहीं किसने क्या कहा। मैं तो वहाँ से जान बूझकर हट गया था। थोड़ी देर में जब उस स्थल पर फिर पहुँचा, पो पीछे की तरफ से एक बुढ़िया जोर जोर से कह रही थी—“सच बात तो यह है कि स्त्रियों की है बड़ी फजीहत। दुनिया उनका मोल करती है तोल देखकर, इसी लिये उनके रूप और यौवन का नाज तो सब उठाते हैं; पर उनके बुरे दिनों का कोई भी साथी नहीं होता। वे लोग भी नहीं होते, जिन्हें हम अपना समझती हैं।”

तीर को लक्ष्य तक पहुँचने में देर लगती है; लेकिन इस व्यंग को मामी के हृदय तक पहुँचने में जरा भी देर न लगी। वे सिहर उठीं, जैसे किसी ने भरपूर चुटकी भर ली हो। वे उठना ही चाहती थीं कि उनसे सटकर बैठी हुई एक नवोढ़ा ने पूछा—“जीजी, पहले दिनों का कोई फोटो भी तुम्हारे पास है?”

“फोटो !” दाँत पीसकर मैंने मन ही मन दुहराया। निर्जीव फोटो क्या झरने की बूँदों की तरह उमड़ते हुए उस रूप के प्रति न्याय कर सकता था ? ओफ ! आज जाना, दुनिया का प्रवाह कितने निम्न तल पर बहा करता है।

ऐसा मालूम हुआ, जैसे मामी उठना चाहती हैं। अपनी चादर उन्होंने सँभाली और सामने के जमघट पर उत्सव की उस चहल-पहल

पर एक शून्य दृष्टि डालकर तत्क्षण उसे समेट लिया। मालूम होता था, उन आँखों में एक यांत्रिक चेतना के सिवा और कुछ नहीं था। विषाद, ग्लानि, क्षोभ जैसे विकार उसमें एक बार उतरकर ऊपर उठ नहीं सकते, ऐसी गहराई थी उस शून्यता में।

वे उठ दीं, घोर अपमान और लांछना की गठरी सी बाँधकर। जिनके रूप के प्रकाश में स्त्रियों का वह क्षुद्र समाज दीपक की भाँति लाल होकर टिमटिमाने लगता था, वही मामी आज परास्त होकर जा रही थीं। वे अपने सब पैतरे भूल गई थीं। वार करना तो दूर, वार बचाना तक भूल गई थीं।

दस-पाँच सेकेंड तक वे जहाँ की तहाँ खड़ी रहों, मानो इस प्रतीक्षा में कि अगर जमीन फट जाय, तो उसमें घँस जायँ; लेकिन ऐसा नहीं हुआ। पीठ मोड़कर जाने के लिये वे घूम लेना ही चाहती थीं कि किसी ने बगल में से उनका हाथ पकड़कर पुकारा—“अम्मा, चलो; गाड़ी आ गई है।”

मामी ने जरा तिरछे होकर देखा, तो वहाँ भुवन खड़ा था। उसे देखते ही उनका सारा विषाद, सारी संचित आत्मग्लानि न जाने किधर उड़ गई। खतम होकर बुझती हुई दीए की बत्ती जिस प्रकार पास की एक दूसरी बत्ती को पाकर एकाएक जल उठती है, इसी प्रकार उनका मुँह खिल उठा और उसमें से निकल पड़ा—“अरे भुवन, तुम यहाँ कब आ गए?”

भुवन को मैंने सौ पचास दफा भी नहीं देखा है क्या, लेकिन उन आँखों से नहीं, जो इस समय अचानक खुल गई थीं। मामी से बिलकुल सटकर खड़ा हुआ वह उनके कंधे तक लगता था। गोरा, भरा हुआ बदन था, जिसके रोम रोम से मामी झाँई मार रही थीं। माथे पर के सुनहले बाल माँग को लाँघकर सामने गुच्छा बनकर लहरा रहे थे।

जल जैसे निर्मल कपोलों में, संकोच और लज्जावश, कभी एक भँवर सी पड़ जाती थी, कभी संध्या के बादलों को सी लाल आभा परछाईं की तरह दौड़ती हुई निकल जाती थी। आज से तीस इकतीस वर्ष पहले मामी को भी इसी तरह पहले पहल देखा था। यही बड़ी बड़ी तरल गंभीर आँखें थीं, यही सरलता, ऐसा ही प्रबल आकर्षण, जो देखनेवालों की आँखों को मानो पकड़कर बैठ जाता है।

बड़ी देर तक मामी अपलक नेत्रों से भुवन की तरफ देखती रहों, जैसे कभी दर्पण के सामने खड़े होकर अपने को देखा करती थीं और फिर बोलीं—“तुमने किसी से नमस्ते नहीं किया, भुवन। वह देखो, तुम्हारी बुआ बैठी है, वह वहीं चाची।”

भुवन ने दोनों हाथ जोड़कर अपने शर्मिले पलक उठाए और फिर गिरा लिए। सारी स्त्रियाँ मंत्रमुग्ध की तरह उसे देख रही थीं, जैसे उनकी भयानक भूख मूर्त्तिमान् होकर उनके सामने आकर खड़ी हो गई हो। किसी ने पूछा—“कितने वर्ष का है यह?” मामी ने कहा—“चौदह का।”

“पढ़ता है न?”

“हाँ, आठवीं में पढ़ता है।”

फिर सन्नाटा छा गया। उसे तोड़ते हुए मामी ने कहा—“आप सब आशीर्वाद दीजिए, यह पढ़-लिखकर सुपात्र बने।”

किसी बुढ़िया ने इसके उत्तर में धीमे से कहा—“ईश्वर करे, इसकी हजार वर्ष की आयु हो।”



## रूप का अंतिम चित्र

[ श्री बलराज साहनी ]

डाक्टर साहब दिन का काम खतम कर चुकने के पश्चात् चिल-मची में हाथ धो रहे थे कि उन्होंने आर्टिस्ट के लड़के को दीवार के साथ सिकुड़कर खड़े हुए पाया। पूछने लगे—“क्यों बेटा, क्या हाल है ?”

“आपको माताजी ने बुलाया है।”

“क्यों, तकलीफ ज्यादा तो नहीं ?”

“पता नहीं, उन्होंने सिर्फ यही कहा था, डाक्टर साहब को जल्दी बुला ला।”

डाक्टर साहब ने बालक को अपनी जाहिरी उपेक्षा से विस्मित करते हुए, आराम के साथ हाथ पोंछे, दस्ताने व ओवरकोट पहना, फिर कम्पौंडर को कुछेक हिदायतें करके बाहर निकले। बालक उनका बैग सँभालता हुआ पीछे पीछे चला। वर्षा तो अब थम चुकी थी, किंतु सड़क पर लथपथ दलदल थी। डाक्टर साहब छड़ी के सहारे, मुहल्ले की दूकानों के साथ साथ, किंतु उनकी छूत से बचने की चेष्टा करते हुए जा रहे थे। आर्टिस्ट गली में रहता था, वरना ताँगा ले लेते। बालक के पाँव नंगे थे, इसलिये उसे सड़क के बीचोबीच उँगलियों को कीचड़ में दबा दबाकर चलना अधिक रुचिकर था। बादलों से आच्छादित संध्या रात्रि का रूप धारण कर रही थी; किंतु अब भी कम्बखत बिजलीवालों ने सड़कों पर रोशनी नहीं की। सदर में, जहाँ न भीड़ न कीचड़, वहाँ पाँच बजे ही दीवाली हो जाती थी। वहाँ इस

समय शानदार मौसम होगा। यदि यह असमय बुलावा न आ जाता, तो आज डाक्टर साहब की शाम की सैर विशेष रोचक होती, क्योंकि शहर के अन्य भद्र पुरुषों की तरह वे भी कैटोनमेंट की ओर ही हवा-खोरी के लिये आया करते हैं।

इसी कारण आज उन्हें दया के साथ अपने आर्टिस्ट मित्र पर खीज भी आ रही थी। जब वे उसके साथ कालेज में पढ़ते थे, तो रूपलाल अच्छे जर्हान विद्यार्थियों में गिना जाता था। पिता भी आसूदा आदमी थे। वह यदि चाहता तो विलायत भी जा सकता था। फिर यह दारिद्र्य सहेड़ना किस लिये? माना कि आदर्श एक सराहनीय वस्तु है; किंतु यदि समाज में अभी उसकी कदर नहीं हो पाई, तो सत्याग्रह करने से क्या लाभ? उन्हें रूप से कहीं बढ़कर गरीबी का सामना करना पड़ा, लेकिन वे अपने करियर के प्रारंभ में ही पहचान गए थे कि संसार में मनुष्य को अकेले दम ही उठना होता है। इस क्रूर संघर्ष में स्वार्थ-रहित होकर कोई किसी की सहायता नहीं करता। नतीजा यह कि अब वे भद्र पुरुषों की तरह सभ्य व उपयोगी जीवन बिता सकते हैं। किंतु यकि वे भी यही फैसला कर लेते कि सरकारी कालेजों से निकले हुए छात्रों के लिये कारोबार प्रस्तुत करना सरकार का ही कर्त्तव्य है, तो अब तक गलियों में सड़ रहे होते; और सम्भव है, चरित्रहीन भी हो बैठते!

बेशक उन दिनों वे रूपलाल की युक्तियों का प्रत्युत्तर न दे सकते थे। रूप व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं, हमेशा सर्वगत दृष्टि से बहस किया करता। अगर सड़कें और बाजार गंदे हैं और अधिकांश देशवासी उन्हीं में निवास करते हैं, तो मैं क्यों सिविल लाईस के बँगलों में जालिमों का पड़ोसी जा बनूँ, चाहे मेरे पास दौलत हो? यदि मैं

समझता हूँ कि शिक्षाप्रणाली बुरी है, तो मैं क्यों किसी कालेज में प्रोफेसर बनकर अपने टुकड़ों की खातिर छात्रों को धोखे में डालूँ ?

लेकिन यह पुरानी बात थी। अब तो रूपलाल किसी से मिलता जुलता ही न था। घर पर ही पड़ा पड़ा समय बिता देता। अपने आपको चित्रकार कहने का उसे अब भी शौक था, किंतु अभी तक एक भी साराहने योग्य चित्र न बना सका था। संसार ऐसे मनुष्यों को छोड़कर आगे निकल जाता है।

अंधकारपूर्ण तंग गलियों के एक लंबे जंजाल को तै करके वे रूपलाल के मकान पर पहुँचे। कमरे की खिड़कियाँ और किवाड़ सब बंद थे। हवा में वैजीन तथा अन्य दवाइयों की बू फैल रही थी। बिजली के बल्ब पर टोपी के स्थान पर एक कार्बन पेपर चिपक रहा था। किताबों, कपड़ों और असंख्य अनावश्यक वस्तुओं से कमरा घुट रहा था। आर्टिस्ट अपनी धर्मपत्नी के बार बार मना करने के बावजूद अपने बिछौने की चादर झाड़ रहा था और बड़ी सावधानी के साथ अपने गिरे हुए बाल चुन रहा था।

“हैलो विश्वनाथ !”—उसने डाक्टर को प्रवेश करते देखकर कहा।

“रूप !” डाक्टर ने छूटते कहा—“यह तुम क्या कर हो ? हजार बार मैंने तुम्हें बैठने उठने से मना किया है, तुम क्यों बाज नहीं आते ?”

“देखो मियाँ,” रूप ने अँगरेजी में बोलना शुरू किया—“गृहिणी को एक बात की आवश्यक सूझ होनी चाहिए और वह यह कि मरीज का बिछौना सदा साफ सुथरा रहे।

हमारी औरतों को यदि यह न सूझे, तो और क्या चारा है ? अब बिस्तरा साफ है, मैं लेट सकता हूँ, लो ! अब खुश हो ?”

डाक्टर ने नब्ज पर हाथ रखा । बुखार जोरों में जा रहा था । फेफड़ों में साँस भी बदस्तूर जलन कर रही थी । डाक्टर ने धर्मपत्नी से मुखातिब होकर कहा—“देखिए मैं अभी एक शीशी भेजूँगा, उसका कार्क खोलकर खोलता हुआ पानी डाल देना । रूप को कहें कि उसकी थुथनी के साथ मुँह लगाकर लंबी लंबी साँस खींचता रहे । खाँसी आराम हो जायगी, कोई फिक्र की बात नहीं । बाकी वही दवाइयाँ देते जाइए ।”

“लेकिन डाक्टर साहब,”—धर्मपत्नी ने पल्ला मुँह पर सरकाते हुए कहा—“मैंने इसलिये आपको तकलीफ नहीं दी । मुझे फिकर इनकी बातों से लगती है । तीन घंटे से लगातार बोल रहे हैं, और आराम नहीं करते । आप इन्हें समझाएँ । मेरी नहीं मानते ।”

“डाक्टर यहाँ दो मिनट बैठो, यहाँ,” मरीज ने संजीदगी से अनुरोध किया—“मैं यह जानता हूँ कि मुझे डबल निमोनिया है । मुझे यह भी पता है कि बुखार तेज है और मैं कुछ खुमारी में हूँ, लेकिन मैं बक नहीं रहा, इसका मुझे विश्वास है । यह स्त्री मेरी बात को नहीं समझती । सारी आयु इसने मेरी एक बात भी नहीं समझी । यह समझती है, मैं ब्रह्म रहा हूँ । इस लिये मुझे ज्यादा चिल्लाना पड़ता है । सारा दिन मैं इसी इंतजार में रहा हूँ कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, किसी को दिखा दूँ । क्योंकि,” वहाँ वह फिर अँगरेजी में हो गया, “मुझे जीवन का अब विश्वास नहीं रहा । यह साफ बात है । मैं जानता हूँ दिल ही दिल, तुम भी सहमत हो ।”

डाक्टर निर्णय न कर सका कि वह क्या कहे । हालत आगे से खराब नजर आती थी, और कुछ डिलीरियम भी था । लेकिन रूप को

पहचानते हुए उसकी इच्छा का विरोध करना उसे इस हालत में और भी उद्विग्न करना था। इसलिये वह चुप रहा। रूप बोलता गया—  
 ‘‘तुम जानते हो, मेरे जीवन की ट्रेजिडी क्या है? जब मैं स्वस्थ होता हूँ तो मेरे शरीर में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि मैं किसी से बात भी करूँ। यह जी चाहता है कि आराम करूँ। पड़ा रहूँ। किसी का मुँह तक न देखूँ। मेरी गरीबी के कारण न कोई मुझे बुलाता है, न मैं किसी के यहाँ जाता हूँ। लेकिन जब मैंने शराब पी होती है, तो मेरे खून का दौरा तेज होता है—वैज्ञानिक उसूल है—उस समय मेरा मस्तिष्क पूरे जोर से काम करता है, चित्र बनाता है। उस समय मैं वह मनुष्य होता हूँ, जो कि, यदि बाधाओं और झंझटों ने मेरी कमर न तोड़ दी होती, तो मैं होता। लेकिन चूँकि लोग मेरे विचारों को नहीं समझ पाते, इसलिये जीवन से रही सही ठोकरें मुझे इस समय मिलती हैं। मुझे लोग शराबी कहकर खारिज कर देते हैं। जो कभी मेरी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखा करते, वह भी सिर हिलाकर इशारे करते हुए गुजर जाते हैं—देखो, यह अमुक आदमी का लड़का है। सब जायदाद शराब में उड़ा डाली है। अब दूकानों पर बैठा बैठा बकता है।’’

धर्मपत्नी ने रोते हुए उसके माथे पर हाथ रखा—‘‘ऐसी बातें क्यों सोचते हो, नरक में पड़े दुनिया। तुम अब आराम करो। डाक्टर साहब भी थके हुए होंगे। जब ठीक हो जाओगे, तो बातें करते रहना।’’

‘‘देखो इसकी तरफ’’, रूप ने पूरे जोर से हँसते और साथ खाँसते हुए कहा, जैसे कहीं मैं संसार की बेवकूफी के विरुद्ध अपीलें कर रहा हूँ। यह नहीं समझती। इसने जीवन में मेरी एक बात नहीं समझी। सिर्फ पाँच मिनट के वास्ते, डाक्टर, फिर तुम चले जाना। तुम मेरे एकमात्र मित्र हो। तुम्हारी राय की मैं कदर करता हूँ।

“इस समय बुखार तेज है, पर इतना तेज नहीं कि मैं बेसुध हो जाऊँ। उत्तेजना है, लेकिन—अहोभाग्य !—उसी मिकदार में, जिससे मेरे मस्तिष्क को पूरी सहायता मिले, बस। मैं इस समय वह प्रोमीथियस नहीं हूँ, जो पत्थर के साथ बँधा है, बल्कि वह जिसका रोम रोम एक नई स्वतंत्रता, नई स्फूर्ति की अनुभूति पा रहा है। यह तुम ठीक जानो। मेरी बातें मेरी पत्नी को बहकी हुई बेशक नजर आएँ; किंतु तुम्हें जाँच होनी चाहिए।

“इसी प्रसंग में यह एक मार्मिक कहानी बन सकती है। जब स्वस्थ हो तब भी संसार न समझे और जब बीमार हो तब भी न समझे—ह, ह, लेकिन मैं कहानियाँ नहीं लिखता।”

डॉक्टर चुपचाप सुन रहा था। ये विचित्र पहेलियाँ न वह बूझ सकता था, न बूझना ही चाहता था। उसके लिये यह स्पष्ट था कि टाक्सीमियाँ बढ़ रहा है और मरीज को आराम की अश्वद जरूरत है। किंतु इसका और क्या उपाय हो, सिवाय इसके कि रूप अपने मन का बोझ उतार दे? नहीं तो वह पट्टी भी कहाँ रखने देगा? शायद इस मानसिक विभ्रांति में रूप कोई विशेष बात कहने की चेष्टा कर रहा हो?

“हाँ, कहानियाँ नहीं लिखता और चित्र भी नहीं बनाता। तुम यही सोचते हो न? मैं तुमसे सहमत हूँ। मैंने अभी तक कोई काम का चित्र नहीं बनाया। इसलिये संसार की दृष्टि में मुझे कलाकार नहीं कहा जा सकता। लेकिन तुम्हें याद है कि मैं क्लास में बैठा बैठा दीवार पर तसवीरें देखा करता था। कई बार तुम्हारी शंका मिटाने के लिये मैंने पेंसिल से कई चित्र पक्के करके तुम्हें दिखाए थे? मैंने अपनी आयु में हजारों मास्टरपीस कल्पित किए हैं—उन्हें देखा है, छाती से सटाकर रखा है; लेकिन चित्रित

नहीं किए। क्यों करता ? मेरे संसार को उनकी आवश्यकता न थी। मैं लोगों की कुंद नजरों द्वारा अपनी कला का अपमान नहीं बरदाश्त कर सकता था।

“या यूँ कह लो कि दुर्भाग्य से मुझे अपनी कल्पना से बाहर कोई भी वस्तु ऐसी सुंदर नजर न आई, जिसका मैं चित्र बनाता। या बेशक यह समझ लो—और शायद यह हो भी ठीक—कि आलस्य का शिकार होकर मैंने ब्रह्म संभालने में भी प्रवीणता नहीं हासिल की।

“लेकिन ईश्वर की दृष्टि में मैं अवश्य पेंटर हूँ। कैन्वस उठाकर साथ थोड़े ही ली जाती है। मेरा तो विश्वास है कि जो दृश्य कल्पना देखती है, वह हू-बहू कैन्वस पर लाया ही नहीं जा सकता।

“बस, यही भूमिका थी। अब इधर आओ, यह देखो—मेरा अंतिम चित्र।”

डाक्टर उठकर उसके सिरहाने के पास गया। रूप फर्श की ओर संकेत कर रहा था; किंतु डाक्टर को वहाँ एक रुमाल के अतिरिक्त कुछ नजर न आया। डाक्टर का सन्देह अब विश्वास का रूप धारण करने लगा। धर्मपत्नी दीवार के साथ अशांतमयी मुद्रा में खड़ी थी। डाक्टर ने उसे ठंडी पट्टी तैयार करने का इशारा किया और स्वयं खिन्नचित्त होकर खिड़की के पास आ खड़ा हुआ। डाक्टर होकर भी उसकी आँखें डबडबा गईं।

इस पर रूप ने जोर से कहा—“मूर्ख कहीं का। तुम्हारी दृष्टि हमेशा वस्तुओं पर ही रही, आगे नहीं गई। देखो भाई, इधर आओ। इसी रुमाल में देखो।”

डाक्टर का हाथ खींचकर रूप ने फिर उसे अपने पास बिठा लिया, और अब धीमी आवाज में बड़े प्यार से उसे समझाने लगा।

उसकी उँगली के इशारे का अनुसरण करके डाक्टर ने देखा कि सचमुच रूमाल पर कार्बन पेपर से ढके हुए बल्ब का प्रकाश एक चित्र का रूप धारण कर रहा है। ऐसा दीखता है कि कमल ओढ़े हुए कोई मनुष्य जमीन पर बैठा है। उसके चेहरे की हाडुयाँ निकली हुई हैं और कनपटियाँ अन्दर धँसी हुई हैं। ऐसा मालूम होता है कि कोई मजदूर सारे दिन की—सारे जीवन की मेहनत के बाद थककर आ बैठा है और अब आँखें मूँदकर प्यास और श्रद्धा भरे ओठों से एक श्वेत सुकोमल हाथ को चूम रहा है, जो शायद किसी अदृश्य युवती ने उसके कंधों पर डाल रखा है। एक मनुष्य और उसके कंधे पर एक हाथ। बस।”

डाक्टर कुछ क्षण स्तब्ध होकर देखता रहा; लेकिन कुछ कह न सका। एक लम्बी साँस खींचकर उठ खड़ा हुआ। रूप स्नेहपूर्ण नेत्रों से रूमाल की ओर देखता हुआ कह रहा था—“कितना साफ, कितना कोमल, कितना प्यारा हाथ! डाक्टर, शायद हरेक मनुष्य को जीवन में कभी न कभी एक ऐसा हाथ पकड़ने का अवसर मिलता है। लेकिन कई उसे पकड़कर फिर छोड़ते नहीं। उस हाथ की खातिर संसार में उन्हें क्या नहीं सहना पड़ता—ठोकरें, पामालियाँ, मुसीबतें। मगर वे अपने अरमानों को दबाकर सब कुछ सहते हैं, इस आशा में कि शायद वह हाथ...”

डाक्टर ने देखा कि उसकी आँखें डबडबा गई हैं। वे अपने मित्र के सिरहाने आ बैठे और उसके माथे पर हाथ रखकर पुचकारने लगे—“पागल मत बनो रूप। मैं यह जिम्मा लेता हूँ कि तुम ठीक हो जाओगे, और यह चित्र पूरा करोगे। संसार में ऐसी चाज कभी किसी ने न देखी होगी। धीरज करो।”

यह कहते हुए उन्होंने आर्टिस्ट की पत्नी को दूध लाने का आदेश किया और तिपाई पर पड़ी हुई दवाइयों को, सँवारते हुए कई सांत्वना-

प्रद वाक्य कहे। मरीज अब सँभल गया था। उसे तसल्ली थी कि उसकी बातों पर डाक्टर को अविश्वास नहीं हुआ।

उसने डाक्टर से अंतिम प्रेरणा की। वह उसकी पत्नी को हिदायत कर दे कि इस रूमाल को किसी हालत में भी वहाँ से न हिलाया जाय।

स्त्री दूध लाई और आर्टिस्ट ने चुपचाप पी लिया। डाक्टर साहब ने एक नुसखा लिखा और साथ ही स्त्री को रूमाल न हटाने का आदेश किया। इसके बाद वह छड़ी उठाकर चल दिए। थड़े पर आर्टिस्ट का लड़का अन्य बच्चों को बातें सुना रहा था। डाक्टर साहब को उतरते देखकर वह फर्मावरदार ऊपर बैग उठाने चला गया।

गलियों के चक्रव्यूह में से वापस निकलते वक्त डाक्टर साहब असमंजस में थे कि रूमाल वहीं पड़े रहने देने में उन्होंने गलती तो नहीं की, थी ? शायद उसे लगातार देखने से मरीज और भी उत्तेजित होता रहे और अपनी रही सही शक्ति भी खर्च कर डाले। लेकिन उठा देने से भी तो वह झुँझला उठता। इसी तरह कुछ देर वे सायंकाल की घटनाओं पर विचार करते रहे। अपनी सारी आयु में उन्होंने एक रूमाल पर इतना गहरा सोच नहीं किया था। पीड़ित होकर भी वे एक बार मुस्करा दिए।



## ‘आषाढस्य प्रथमदिवसे’

[ श्री कमलाकांत वर्मा ]

सजल-सलोना-साँवला आषाढ़ आज ही तो आया है ।

सबरे से ही आज प्रकृति की आँखों में कोई मूक विह्वल रहस्य झाँक झाँक जा रहा था, वसुंधरा किसी अभिनव अनजान अनुभूति के झीने स्पर्श से सिहर सिहरकर चिहूँक उठती थी, और तब तक अपराह्न-सूर्य की दुर्दृष्ट दुर्दंत किरणों की साम्राज्यवादी शासन सत्ता को कुचलती, रौंदती, क्रांति की विस्फोटपूर्ण शक्तियों की पुंजीभूत तड़फड़ाहट को बिजली सी सँजोए, कड़कड़ाती, गरजती, उनचास पवनों के पंखों पर चढ़कर काले मेघों की यह अक्षौहिणी सेना क्षितिज के न जाने किस कोने से उमड़ घुमड़कर सारे आकाश में छा आई है ।

आज न तो वह ‘कश्चित्’ प्रवासी यक्ष है, न वह ‘रुचिरप्रसाद-हर्म्या’ अलकापुरी और न ‘जनकतनयास्नानपुण्योदक’ वह रामगिरि-आश्रम । आज कालिदास भी नहीं हैं, जिनकी कल्पना के स्पर्श से फुहारों के बने हुए बादल भी सजीव सस्पंद होकर केवल अँजुली भर फूल के बदले गिरि-वन-नदी पार कर विरहिणी यक्षिणी तक प्रियतम का संदेश पहुँचा सकें । कलकत्ते की अट्टालिकाओं की धूमिल छाया में खोए से, ट्रामों, बसों के कोलाहल में डूबे, एक जीर्ण शीर्ण मकान की छत पर मुँडेरों के सहारे खड़ा एक युवक अंतरिक्ष के रंगमंच पर का यह रोमांचक अभिनय निर्निमेष देख रहा है और उन दौड़ते भागते ज्वल विह्वल मेघों के प्रति एक मूक प्रश्न मानों रह रहकर उसकी आँखों में

उभर आता है—‘तुमने किसी के पास किसी का संदेश कभी पहुँचाया था—क्या यह सच है?’

आज आठ महीने हुए वह कलकत्ते नौकरी की तलाश में आया था। नौकरी मिल गई, मित्रों ने इस असंभाव्य, अकल्पित सुयोग के लिये बधाइयाँ दीं, दावतों के तकाजे हुए, घर पर सत्यनारायण की पूजा हुई, माँ ने मिठाइयाँ बाँटीं, पिता ने सभी रिश्तेदारों को पत्र द्वारा यह शुभ सूचना दी, और सभी हितचिंतकों ने आराम की साँस ली। प्रकाश एक ठिकाने लग गया।

इसके बाद महीना बीता, दो महीने, चार महीने; शरद के बाद शिशिर, फिर वसंत और फिर गर्मी। प्रकाश कलकत्ते जैसे बड़े स्थान में नौकरी कर रहा है। उहदा अच्छा है, काम आराम का है, रुपए भी आवश्यकताओं के अनुसार कुछ मिल ही जाते हैं और इसके अतिरिक्त बड़े लोगों से मिलता जुलता है, उच्च श्रेणी में उसकी पहुँच है, बड़े स्थान की बड़ी संभावनाएँ होती हैं, बड़े अवसर होते हैं, उसके भविष्य का मार्ग प्रशस्त है; सभी को उसके ऊपर गर्व है, भरोसा है, सभी उसकी ओर से सुखी हैं; पर यदि कोई दुःखी है, तो केवल एक ही सुकुमार नन्हा सा प्राण—उसकी नवविवाहिता चंदा।

चंदा जानती है कि प्रकाश उसके लिये तड़प रहा होगा। वह यह भी जानती है कि प्रकाश जानता है कि वह इस बात को जानती है, फिर भी, सब कुछ नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभव चाहती है। ज्ञान के सहारे जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। स्मृति और कल्पना के वृत्त में कल्पना के फूल नहीं उगते। अतीत और भविष्य की नौक पर टँगे हुए वर्तमान से हृदय को शांति नहीं मिल सकती। चंदा प्रकाश के प्रेम से अधिक प्रकाश को ही चाहती थी। वह उसे देखना चाहती

है, उसे स्पर्श करना चाहती है, उसे पाना चाहती है; और जब तक उसे वह मिल न जाय, संसार की कोई भी विभूति उसे सुखी नहीं बना सकती ।

प्रकाश सब कुछ जानता है, सब कुछ महसूस करता है; किंतु संसार में चंदा की वेदना और प्रकाश की अनुभूति का संयुक्त शक्ति से भी अधिक बलवती शक्तियाँ हैं, और वह दुर्लभ परिखा सी बनकर मानों उन दोनों के बीच में आकर बिछ गई हैं ।

चंदा जहाँ है, वह स्थान कलकत्ते से दूर है, बहुत दूर, फिर भी इतना दूर नहीं जितना अलका रामगिरि आश्रम से रही होगी । प्रकाश इस परदेश में प्रवासी है, पर स्वदेश से निर्वासित नहीं । फिर भी आज आठ महीने हो गए और वह चंदा को देख नहीं सका है ।

वह जिस आफिस में काम करता है, उसमें सारे वर्ष में एक ही बड़ी छुट्टी होती है—‘पूजा’ की और वह भी बड़ी इस अर्थ में कि पंद्रह दिनों तक आफिस बंद रहता है । किसी भा कामकाजी स्थान में इससे अधिक छुट्टियों की आवश्यकता ही क्या है ?

एक बार एक मित्र के यहाँ कोई प्रयोजन था और प्रकाश को उसमें सम्मिलित होना आवश्यक था । उसने छुट्टियों के लिये दर्खास्त दी । आफिस के अँगरेज मैनेजर ने उसे बुलाया और कहा—“वेल बाबू, हम इस बार छुट्टी ग्रांट करता है, आपको एक हफ्ते के लिये लीव विदाउट पे मिलेगा ।”

अत्यंत विस्मित होकर प्रकाश ने पूछा—“लेकिन अगर छुट्टी हुई, तो लीव विदाउट पे क्यों ?”

रजिस्टर उलटते हुए मैनेजर ने कहा—“आपका पंद्रह दिन का छुट्टी ज्यू था; वह आप ले चुका... ।”

“लेकिन मैं तो बीमार था !”

“जो भी हो, अब और तो खू है नहीं, इस बार लीव विदाउट पे मिलेगा, और आगे छुट्टी मिलेगा नहीं.....अच्छा, अब आप जा सकता है।”

अत्यंत दार्शनिक भाव से इस घटना पर विचार करने पर प्रकाश को लगा कि इसमें दोष किसी का भी नहीं है, मैनेजर का नहीं, आफिस का नहीं, मालिकों का भी नहीं। इसमें दोष केवल उस मनोवृत्ति, उस पद्धति का है जो सप्राण, सचेतन व्यक्ति को निर्जीव यंत्र की तरह निःसंग होकर काम में लाती है और फिर घिस जाने पर उसे निर्मम भाव से निकाल फेंकती हैं। उसे अनुभव करने का समय नहीं है, द्रवित होने का अवकाश नहीं है, सहानुभूति दिखाने की गुंजायश नहीं। वह तो कार्यशक्ति चाहती है—चिरनवीन, चिरजाग्रत, चिरतत्पर जिसकी अविरल आहुति से वह उत्कर्ष की वह्निशिखा की उच्छ्वसित धूम्रराशि बनकर प्रतियोगिता के वातावरण में ऊँचे से ऊँचा उठ सके। वह रक्तमांस के बदले तेल और कोयला चाहती है, व्यक्ति के बदले यंत्र। और उस शक्ति से टकराकर प्रकाश की सारी इच्छाएँ, चंदा के सारे अरमान चूर चूर होकर बिखर गए।

संध्या के यौवन में मेघ लावण्य बनकर भीन गए हैं। हवा में भरी हुई फुहारें आलिंगन में जकड़े हुए किसी कंपित-हृदय के आर्द्र पुलकित निःश्वासों की याद दिला रही हैं। बहुत से यान यंत्रों के मिश्रित कोलाहल को चीरती हुई किसी अकेली कोयल की पतली आवाज न जाने किधर से चू पड़ी। धूँ और गैस से दुखती हुई प्रकाश की आँखों के सामने कितने ही चित्र बिखर पड़े, और तब चंदा का वह मलिन, विषण्ण, आधा हँसता, आधा रोता मुख आकाश की सजल श्यामल पृष्ठ भूमि पर रेखाचित्र बनकर खिच-सा गया, जब कि चलते

समय उसने कुछ हँसी में और कुछ आंतरिक गंभीरता से कहा था—  
“मुझे भी अपने साथ ही कलकत्ते ले चलो न !”

प्रकाश ने कहा था—“कलकत्ते जाने पर मैं तुम्हें बुला दूँगा ।”  
इसके बाद चंदा के जितने भी पत्र आते, सबमें यही रहता—“तुम  
मुझे बुलाते क्यों नहीं ?” और प्रत्येक के उत्तर में प्रकाश लिखता—  
“घबराओ नहीं; मैं तुम्हें अवश्य बुलाऊँगा ।”

और इसी प्रकार आठ महीने बीत गए । न तो प्रकाश चंदा के पास जा सका, न उसे अपने पास बुला ही सका । कलकत्ते में परिवार रखने का प्रश्न साधारण नहीं है । जो थोड़े से रूपए उसे मिलते हैं, उनमें अपना खर्च चलाना, भाइयों को पढ़ाना, घर पर भेजना और फिर हो सके तो पुराने कर्ज चुकाना, बहुत काम हैं । इसके अतिरिक्त हित मित्रों की भी समय समय पर सहायता करते ही रहना पड़ता है । ऐसी अवस्था में चंदा को यहाँ बुलाकर विदेश में गृहस्थी जमाने का साहस करना आसान नहीं है ।

पर प्रकाश के जीवन में चाहे एक हजार बातें हों, चंदा के जीवन में तो केवल एक ही बात है—प्रकाश ! जो बात उसकी समझ में आती है, वह यह कि प्रकाश उसे अपने पास बुलाना नहीं चाहता; जो बात समझ में नहीं आती, वह यह कि आखिर क्यों नहीं ? आज से दो महीने पहिले उसका अंतिम पत्र आया था । उसमें उसने यही प्रश्न अंतिम बार पूछा था । प्रकाश इसका कोई भी समुचित उत्तर न दे सका और तब से चंदा का कोई पत्र नहीं आया है ।

अंधकार घना होता जा रहा है, बिजलियों की आतशबाजी छूट रही है, धुएँ की कुंडलियों में छन छनकर सड़क की रोशनी की एक

उदास रेखा अत्यंत दार्शनिक भाव से छत पर भा बिछी है। एकाएक बादल घहरा उठे। पर प्रकाश आत्मविस्मृत सा क्षितिज में आँखें गड़ाए न जाने क्या क्या सोच रहा है।

यक्षिणी वीणा बजाकर प्रियतम के विरह के गीत गा सकती थी; पर चंदा न तो वीणा बजा सकती है, न विरह के गीत गाने की घर में स्वतंत्रता ही है। यक्षिणी अलका-निवासिनी थी, विलास ही उसके जीवन की पृष्ठभूमि था, कला ही उसकी एकमात्र साधना; पर चंदा देहात में रहती है, गृहस्थी ही उसका क्षेत्र है और घर का काम-काज ही उसका जीवन। 'एको रसः कृष्ण एव' के कवि की कल्पना में उसकी रूपरेखा अँटती ही नहीं, विप्रलंभ के गायक की वीणा के स्वर में उसका स्वर मिलता ही नहीं, विरह के चित्रकार की तूलिका पर चढ़कर उसकी झाँकी उतरती ही नहीं। सत्य और कल्पना क्या इतने भिन्न हैं ?

कालिदास झूठे हैं, काव्य प्रवंचना है, यक्ष, यक्षिणी, अलकापुरी, रामगिरि आश्रम सभी शून्य कल्पनाएँ हैं, दूत बनकर संदेश वहन करने-वाला वह 'वप्रक्रीडापरिणत-गजप्रेक्षणीय' मेघ विकृत मस्तिष्क का विराट विभ्रम है। संसार में स्थूल—स्थायर सत्य हैं—कलकत्ते की ये पाषाणी अट्टालिकाएँ, इनकी अँधेरी कोठरियों का यह पाशविक जीवन, आफिस की मेजें, फाइलें, मैनेजर की मोटी तोंद, अनवरत चलती रहनेवाली अक्लान्त, अधुब्ध इन ड्राम बसों का यह अनंत जाल, धुएँ और कुहासे का यह उमड़ता हुआ समुद्र और अंत में आषाढ़ के पड़िले दिन का यह पहला काला डरावना बादल, जो गरजता है, तड़पता है, झकोरता है, किंतु... किंतु...

प्रकाश एकाएक चौंक उठा। जीने में से धम धम की आवाज आई। नीचे किसी ने पुकारा—“प्रकाश बाबू का फ्लैट यही है क्या।”

“कौन है ?”

“प्रकाश बाबू यहीं रहते हैं ?...अरे भइया !”

“किशोर ?”

छोटे भाई किशोर ने प्रकाश के पैर छुए ।

“तुम यहाँ कैसे ?” प्रकाश को मानो अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं ।

“आपको मेरा तार नहीं मिला ? भाभी भी तो आई हैं !”

“अरे चंदा ! कहाँ है ?”

“नीचे टैक्सी में ।”

“कुशल तो है !”

किशोर हँसने लगा । ‘हाँ, कुशल ही है । बस आपकी ही चिंता थी । नीचे चलिए ।’

×

×

×

उस ‘अविदितगतयामा’ रात्रि में जब अत्यंत सकुचाती सिहरती प्रकाश की छाती में मुँह छिपाकर चंदा ने स्वीकार किया कि निगोड़े मेघों ने उसे ऐसी बावली बना दिया कि वह उसके बिना कहीं भी रुक ही नहीं सकती तो आकाश में बिजली खिलखिलाकर हँस पड़ी । साथ ही अंतरिक्ष में कालिदास की आत्मा कहीं कराह उठी—यही बात मुझे भी क्यों न सूझी !

— — —

## विद्रोह

[ श्री शांतिप्रसाद वर्मा ]

राजेन यूनिवर्सिटी से लौटा, कोई चार बजे के करीब, थका हुआ, निष्प्रभ, चेतनाहीन सा और जैसे जैसे तीन चार गोलाकार सीढ़ियाँ चढ़कर अपने ड्राइंगरूम कहे जानेवाले कमरे में दाखिल हुआ, और बाँस के सोफे पर धम से जा बैठा। शरीर उसका थकावट से चूर हो रहा था, पर मन क्रियाशील, उत्सुक, व्यग्र सा था। जूतों के फीते खोलकर उसने उन्हें दूर कोने में फेंका, और मोजे उतारने की चेष्टा में लग गया। दूसरे हाथ से टाई की नॉट को ढीला किया, और कमीज के गले के बटन को खोला। नींद के पहले जो दशा होती है, राजेन की इस समय वही दशा थी। दिन भर की घटनाएँ, विचार उसके ध्यान में बारिश के धुँआले बादलों के समान स्पष्ट उठ रहे थे। बर्कले और स्पिनोजा पर किस क्लास में वह क्या बोला था—बोलता वह खराब नहीं है, वह स्वभाव से ही बहुत अधिक ठंडा है। इसलिये विषय में गर्मी लाने के लिये उसे थोड़ा समय जरूर लगता है, पर एक बार जब उसके सूत्र उसकी पकड़ में मजबूती के साथ आ जाते हैं, तब उसकी आवाज एकाएक ज़ेंची होती चली जाती है, उसमें एक भीठी गूँज भर उठती है और तब वह विषय के गहरे अध्ययन, शब्दों के चुनाव और आवाज की गंभीरता से डेढ़ सौ लड़कों के क्लास पर ऐसे शासन करता है, जैसे हिटलर के सामने नाजियों की कोई टुकड़ी हो।

राजेन के शरीर में कुछ गर्मी आई। मोजे न जाने किस प्रकार उतरकर उसके पैरों के पास चुपचाप जा पड़े थे। टाई ढीली, शिथिल,

अभी तक गले में लटक रही थी। राजेन ने उसे एक झटके से अलग किया, उठ खड़ा हुआ और मेज पर से शीशा उठाकर उसमें अपनी हैरत भरी सूरत देखी। बड़े बड़े रूखे बाल सेई के काँटों की तरह उठ आए थे। उसने कई बार ज़ोरों से उनमें हाथ फेरकर उन्हें अस्त-व्यस्त कर डाला, और वह फिर शीशे में झाँका, चायना सिल्क के बादामी कोट और हल्की आसमानी कमीज के नीचे खुले गले पर पसीना बह रहा था। साँवला, चमकता हुआ, क्लीन शेव चेहरा ऐसा दीख रहा था जैसे किसी मजदूर का हो। पर राजेन की थकावट अब मिटती जा रही थी, और शरीर में कुछ फुर्ती भी आ रही थी। इस कल्पना ने कि अपने दुबले पतले सात्विक से दीखनेवाले शरीर को लेकर वह डेढ़ सौ लड़कों के क्लास पर हिटलर के समान शासन करता है, उसके शरीर में एक नई स्फूर्ति भर दी थी। उसके मन की विचारधारा भी कुछ तेज हो गई थी। केवल अपने क्लास को वह इस प्रकार कंट्रोल करता है और गंभीर वाणी में गहरे तत्त्वों पर वह सरल व्याख्या दे पाता है, यह बात नहीं है। इन दो वर्षों में यूनीवर्सिटी के जीवन को उसने कितना क्रियाशील बना दिया है। यूनियन तो है ही, जो दो हजार लड़कों के हुल्लड़ और बीस-पचास लड़कियों की साड़ियों की तड़क भड़क के बीच साल में एकाध बार मिलती है, पर राजेन के प्रोत्साहन से यूनीवर्सिटी में कई छोटी मोटी संस्थाएँ खुल गई हैं। राजेन विचारों की प्रगतिशीलता में विश्वास करता है। विश्वव्यापी आर्थिक अवनति के कारण क्या है, मध्य एशिया के देशों में रूस के समाजवाद की कितनी प्रगति हुई है, अँगरेजी साहित्य में अमरीका के नीग्रो लोगों की दत्त कितनी है, इत्यादि एकेडेमिक विषयों में उसकी बड़ी रुचि है। वह चाहता है कि यूनी-वर्सिटी के विद्यार्थी कला और साहित्य, राजनीति और समाजशास्त्र के विचारों में अग्रणी रहें, उन पर मनन करें, लंबे लंबे निबंध लिखें और उन्हें विद्वानों के सामने पढ़ें, अपने विषय के ऊँचे पत्रों

में छपवाएँ। वह यूनीवर्सिटी के बर्कले और स्पिनोजा पर भाषण देकर ही नहीं लौटा है, एक इसी प्रकार की संस्था में भाषण देकर ही और दूसरी का सभापतित्व करके आया है। इतनी संस्थाओं का भार उसके कंधों पर है, तभी तो वह यूनीवर्सिटी से देर से लौटता है।

राजेन के जीवन में काम है, थकावट है और एक विराट् संतोष भी है। साल भर पहिले तक अध्ययन से बच रहनेवाली शक्तियों के सहारे वह संध्या के सूने आकाश में नीचे बैठकर या तारों की छाया और बिजली के लैंप के प्रकाश में कल्पना के सूत्र जोड़ा करता था। उसकी अँगरेजी कविताओं का एक संग्रह भी प्रकाशित हो चुका था, पर पिछली गर्मियों में अचानक, जब वह नैनीताल में अपने पिता के साथ छुट्टियाँ बिता रहा था, राय साहब विशंभरदास, बार-एट-ला की लड़की सरला से उसकी शादी हो गई तब से कविता बन्द है और उसके हृदय का स्नेह इस लड़की पर खर्च होता है।

सरला विशेष सुन्दर नहीं है। रंग उसका गौरापन लिए है। माथे और गालों पर बचपन की चेचक के हलके पर बड़े बड़े दाग खूब उभरे हुए हैं। ओंठ जरा मोटे और खूब 'सेंसुअसनेस' लिए हुए हैं। आँखें बड़ी-बड़ी, उनमें कुछ भय, कुछ कातरता, कुछ अचरज सा। शरीर के गठन और चेहरे के भाव में स्वस्थता है। जब वह हँसती है तो बचपन का उल्लास उसके शरीर के अंग प्रत्यंग से बिखर उठता है।

सरला राजेन के लिये कभी कभी एक पहेली बन जाती है—वह बिचारशील जो है। राजेन को उसका सादा जीवन बहुत पसंद है। उसके पिता की हज़ार से ऊपर की आमदनी है, पर राजेन की (१३५) रूपए माहवार की तनखाह में वह किस सुंदरता से काम चलाती है। राजेन देखता है कि सरला की रहन-सहन में एक ऐसी सादगी है जो

पवित्रता की सतह तक ऊँची उठ गई है। जब वह उसे हँसते हुए देखता है, तब इस संत की गंभीरता में उसे बच्चे का हृदय दिखाई देता है, पर जब वह गंभीर रहती है, तब उसके ओठों की कामुकता आँखों की कातरता के साथ मिलकर एक ऐसा भाव सरला के चेहरे पर व्यक्त कर देती है कि राजेन चकित सा होकर उसकी ओर देखता रहता है। राजेन कभी कभी जब क्रियाशून्य बैठा रहता है, तब उसके सब-कांशस (अंतश्चेतन) मन में यह प्रश्न उठता है—सरला है क्या पवित्रता की देवी, या एक निर्दोष बच्ची या एक बहुत ही कामुक प्राणी। यह विचार अभी तक उसके कांशस (चेतन) मन की सतह तक ऊँचा नहीं उठा। जब वह यूनिवर्सिटी से लौटता है, सरला अपनी सफेद खदर की साड़ी में दौड़कर उसके गले से लिपट जाती है और अपने कामुक मोटे से ओठों से उसके गालों को चूम लेती है, खिलखिलाकर हँस पड़ती है और मेज पर चाय पीने उसके साथ बैठ जाती है, तब राजेन के अतश्चित्त पर उसके वेश्या, बालक और संत के विविध रूप क्रमशः अंकित होते जाते हैं; मन की ऊपरी सतह पर एक प्रश्न भरा झुटपुटापन सा रहता है, और चाय आरंभ होते होते वह साधारण पुरुष और स्त्री बन जाते हैं, साधारण विषयों पर बात करते हैं, हँसी मजाक होता है। जीवन यों ही चलता रहता है। राजेन के भाँतर का फिलॉसफर सरला के विभिन्न व्यक्तित्वों का विश्लेषण कर पाता है, इसी लिये अस्थिर, अनिश्चित सा रहता है, उस सब के पीछे मानवता का जो सूत्र है, उसे पकड़ नहीं पाता।

कमरे की बड़ी घड़ी में साढ़े चार बज रहे हैं। राजेन बैठा है, और सोच रहा है। बकले और स्पिनोजा और इस सभा और उस क्लब की बातें उसके मन में हैं। थकान से अब वह निवृत्त हो गया है, पर बेचैनी बढ़ रही है। अभी तक न सरला राज के समान आकर

उसके गले से लिपटी है, न उसकी प्रिय चाय उसे मिली है। ये बातें भी उसके दिमाग में उठी नहीं हैं, केवल भीतर से ही धक्का देकर उसे बेचैन बना रही हैं, और वह इस बेचैनी का कारण समझ नहीं पाता है। उसके विचार तो बर्कले और स्पिनोजा, इस सभा और उस संस्था में लगे हुए हैं। वह सोच रहा है कि फिलासफी ( दर्शन ) के विद्यार्थियों का एक अलग संगठन किया जाना चाहिए जहाँ वे स्पिनोजा और बर्कले और हीगल और कांट और स्पेंसर विषयक नवीनतम खोज संबंधी प्रबंध तैयार कर सकें।

और सरला आज किस काम में लगी हुई है ! उसने दरवाजे का पर्दा उठाकर झाँका। बाल उसके बिखरे हैं, उनमें जोर जोर से कंग्री कर रही है। राजेन को देखा तो जैसी चौंकी। बोली—आप आ गए ? और सीधी कमरे में चली आई। जोर जोर से हँसी, ‘आप कब से बैठे हैं ?’—आर वापस लौटने की तैयारी में लगी। राजेन ने उसकी ओर देखा जैसे कह रहा है—चाय में क्या देर है ? मुझे भूख लगी है। सरला जाते जाते कह गई—चाय के लिये थोड़ी देर ठहर सकेंगे न ? लखनऊ से भाई साहब आए हैं, और उनके साथ वासुदेव भी चाय पीने यहाँ आ रहे हैं। और बिना उत्तर दिए वह घर में दाखिल हो गई।

‘भाई साहब’ यानी कमलाकांत तो प्रायः इलाहाबाद आ जाते हैं। उनका आना घर के जीवन में एक साधारण घटना बन गई है। उनके आने पर कभी कोई खास तैयारी नहीं करनी पड़ती। इस मौके पर उन्होंने कभी सरला का व्यस्त नहीं देखा। तब आज विशेष बात क्या है ? और तब उस ड्राइंग रूम कहे जानेवाले कमरे में चारों ओर उनकी नजर फैली। कमरे में साधारण फर्नीचर है, पर आज वह तरीके से जमा है, दीवार के बंगाली स्कूल के चित्र और वह निकोलस रोरिक के ‘राज-

कुमारी का दहेज' की प्रतिलिपि, और आँखों पर पट्टी बँधी हुई 'होप' की तस्वीर सभी झाड़ पोंछकर नई की गई है, मेजपोश बदला है; पर्दे के रिंग्स दूसरे हैं—और उस सब पर सरला के मन में उत्सुकता और स्वागत का यह भाव !

राजेन ने आवाज दी—'सरला', और भीतर से उसने उत्तर दिया—'अभी थोड़ी देर में आई।' राजेन को लगा, जैसे वह गुसल-खाने में बैठी, आँखें बंद, ढेर का ढेर पानी अपनी अंजलियों में भर साबुन से भरे अपने चेहरे को छपक छपककर धो रही है और तब उसके मन में बिजली के समान चमका—'हाँ, यह वासुदेव !' जैसे फिलॉसफी का कोई सूत्र उसकी समझ में आ गया—'वासुदेव ! यह वासुदेव कौन है, जो कमलाकांत के साथ आ रहा है ? होगा कोई कमलाकांत का मित्र, पर उसके अपने मित्र भी कई बार चाय पीने तो उसके यहाँ आते हैं, सरला के मुँह पर यह उत्सुकता और प्रतीक्षा उसने कभी नहीं देखी !

×

×

×

उधर कमरे की बड़ी घड़ी ने टन् टन् पाँच बजाए, उधर कमलाकांत और वासुदेव ने कमरे में प्रवेश किया। यह बात नहीं कि इन दोनों में से कोई भी भला आदमी समय को नियमितता में विश्वास करता है। ये तो अकस्मात् ही ठीक समय पर चाय के लिये आ पहुँचे।

राजेन ने इनके अभिवादन का जवाब दिया, पहिले दोनों हाथ जोड़कर, तब अलहदा अलहदा इनसे हाथ मिलाकर—कमलाकांत ने वासुदेव का परिचय देने की जरूरत न समझी—और तब वह अपनी कुर्सी पर आ बैठा—चुपचाप—पर उसके भीतर का फिलॉसफर जागरूक हुआ—

वासुदेव में व्यक्तित्व है, गठीला शरीर है, साँवला चेहरा, नकशा सुंदर, चेहरे पर एक चमक, आँखों में कांति है। उसके चेहरे पर भाव-शून्यता नहीं, जीवन है। जीता व्यक्ति है, रेशमी खदर का कुर्ता पहिने है, धोती भी बंगाली ढंग की है। कहना कठिन है कि उसका जन्म महाराष्ट्र के एक गाँव में हुआ—रहन सहन में बंगाली और बोलचाल में उत्तर भारतीय संस्कृति की छाप है। प्रकृति और बोलचाल का तरीका राजेन को जँचा, पर उसने देखा इस युवक में निर्भीकता भी है और यह उसमें के चिंतक, अध्ययनशील, फिलॉसफर को विशेष अपील नहीं कर सका। यह व्यक्ति ऐसा नहीं है जो जीवन में निश्चल होकर बैठ सके। इसका जीवन तो अबाधगति होना चाहिए—उसमें का उठाईगीरापन, जिप्सी भावना, राजेन स्पष्ट देख सका।

कमलाकांत आशा के अनुकूल व्यक्ति है। एक बड़े बैरिस्टर के लड़के के संबंध में जैसी कल्पना की जा सकती है, वैसा वह है। लंबा, दुबला, गोरा। हल्की नीली धारियों का ग्रे सूट पहने है, टूटल की लाल, बिंदियोंदार, टाई लगाए। उसके साथ मजे में ग्रेटा गाबो और क्लार्क गोविल, जॉन क्रॉफर्ड और लायनल बैरीमूर के संबंध में रहस्यपूर्ण बातें की जा सकती हैं।

राजेन इन लोगों के प्रति उदासीन है। नंगे पैर, एक ढीला ढाला सूट पहिने, कमीज का गला खुला, सिर के बाल रुखे और बिखरे, वह अन्यमनस्क सा सोफे पर बैठा है। उसकी उदासीनता का एक कारण यह हो सकता है कि अभी तक उसे चाय नहीं मिली है। यूनोवर्सिटी से लौटने पर जब तक वह अपनी शाम की चाय समाप्त नहीं कर लेता, तब तक वह किसी भले आदमी से बात करने के काबिल नहीं होता—हाँ, नौकरों को डाँटने के लिये यह मौका अच्छा होता है। उसकी उदासीनता आदत की उदासीनता है, स्वाभाव की नहीं। उस शुष्क

आवरण के पीछे एक अतीव कोमल हृदय छिपा है, यह बात बहुत कम लोग जानते हैं। राजेन के हृदय में मानवी दया का अनंत निक्षर बहता रहता है।

पर जब तक सरला न आ गई, ये तीनों व्यक्ति दूर दूर ही रहे। सरला हल्के आसमानी रंग की खादी सिल्क की साड़ी पहिने थी, जिस पर बड़े बड़े सफेद फूल बने थे। उसके चहरे पर प्रफुल्लता थी। चाल में जीवन। राजेन शीघ्र जाकर हाथ मुँह धो आया, बाल ठीक किए। चाय आई और तब पार्टी जमी।

सरला उस पार्टी में मध्यवर्ती शृंखला का काम कर रही थी। इन तीनों पुरुषों में बड़ा अंतर था—राजेन आधुनिक साहित्य और राजनीति, समाजशास्त्र और विज्ञान की बातें कर सकता था, जब तक बटैड रसल और बनर्ड शा न हों तब तक जैसे उसका काम ही न चलता हो—हल्के मजाकों से उसे अरुचि थी। वासुदेव का मन देश के नेताओं में रमता था, जैसे निकट वर्तमान ही उसका जीवन हो, गांधी ने कब क्या कहा, और जवाहरलाल सभा का संचालन कैसे करते हैं। उधर, कमलाकांत से आप यू० पी० के विश्वविद्यालयों और हाली-वुड की ऐक्ट्रेसों की बात ही कर सकते थे।

सरला जैसे इन तीनों के बीच में आ गई। मानवता का सूत्र सा बनकर वह इन तीनों के स्नेह का केंद्र जो थी! एक की पत्नी, दूसरे की बहन और तीसरे की मित्र। तीनों का व्यक्तित्व उसका माध्यम लेकर एक दूसरे में घुल मिल रहा था। तीनों उसके द्वारा एक दूसरे से गूँथते जा रहे थे।

सरला चाय के प्याले तैयार करके उन लोगों को देती गई, राजेन नैन केक व मिठाइयों की रकाबियाँ आगे सरकाई और दो घंटे तक खूब

चाय पी गई। और बातचीत होती गई। चाय पर सभी विषय सामने आए, मानसिक क्रियाशीलता पर राजेन के संक्षिप्त भाषण बीच-बीच होते रहे। संसार में हम जो करते हैं वह महत्व की चीज नहीं, जो सोचते हैं वह असली बात है। विचारों में ही संसार का इतिहास साँस लेता है। विचारों के बाहर क्या है। हम क्यों न अपने आपको संसार की प्रगतिशाल विचार-धाराओं के संपर्क में रखें।

देश के नेताओं की थोड़ी सी ब्याख्या भी रही। गांधी जब आनंदभवन में ठहरे थे तब उन्होंने किस बात पर आधे घंटे तक मीरा बहन को डाँटा था, जवाहरलाल जब फैजाबाद में राष्ट्रीय झंडा खोल रहे थे तब बड़े अरमानों के साथ एक बुड्ढा एक माला लेकर उनके गले में डालने आया और उन्होंने उसे किस प्रकार धक्का देकर अलहदा कर दिया। आचार्य कृपालानी के थोड़े से मनोरंजक चुटकुले दोहराए गए। अबुल कलाम आजाद और दूसरे नेताओं पर बहस हुई।

लखनऊ और प्रयाग के विश्वविद्यालयों में कौन श्रेष्ठ है, इस पर आज ग्यारहवीं बार फिर कमलाकांत और राजेन के बीच थोड़ी नौक झोंक रही। बात चीत में सब तरह के विषय आए। सब सरला का आधार पाकर उसमें प्रतिध्वनित होकर, फिर से नवीन हो उठे और हर एक में सबने रस लिया।

सात बजे राजेन ने उठकर कमरे का तेज नीला बत्तन जलाया। कमलाकांत ने घड़ी देखी। वासुदेव ने रूमाल से मुँह पोंछा और वे दोनों भी उठ खड़े हुए। इन्हें किसी मित्र के यहाँ खाना खाने जाना था। बड़ी हँसी खुशी में पार्टी बिखरी। राजेन और सरला इन लोगों को दरवाजे तक पहुँचाने गए। तय पाया कि कमलाकांत और वासुदेव नौ बजे तक लौट आएँगे, और तब पैलेस चला जायगा। फाटक के सामने, दूर, पेड़ों के पीछे, पूनों का बड़ा पीला चाँद निकल रहा था।

कमलाकांत और वासुदेव के चले जाने के बाद राजेन कुछ देर उस पीले बड़े चाँद की ओर देखता रहा। वह लौटा नहीं। 'सरला, मैं ज़रा घूम आऊँ।' ख़ा बहुत लिया है।' सरला लौटी। राजेंद्र सीधा त्रिवेणी की ओर चला। दो घंटे की चहल पहल के बाद उसके मन में एक विचित्र सूनापन सा प्रवेश करता जा रहा था। त्रिवेणी का रास्ता प्रायः जनशून्य था। गर्मी की लंबी संध्या में मिलकर चंद्रमा का प्रकाश धुँधला पड़ा हुआ था। प्रकृति के उस विशाल सूनेपन में राजेन एकाकी विचारशून्य, थका, निष्प्रभ चला जा रहा था। त्रिवेणी तक गया। वहाँ कुछ देर जूते उतारकर पैरों को गंगा में धोया, और जब लौटा तब हृदय पर और भी अधिक बोझा लेकर, और भी अधिक थका, और भी अधिक निष्प्रभ, और भी अधिक चेतनाशून्य। पलंग पर पड़ा रहा। बोला—'सरला, मेरी तबियत ठीक भी नहीं है। मैं सिनेमा नहीं चल्छूँगा।' सरला पर वज्र सा पड़ा, पर वह बहुत भावुक नहीं बनी। नौ बजे कमलाकांत और वासुदेव की कार फाटक पर आ लगी, और सरला एक खादी की सफेद साड़ी पहने, उदास पर हड़, गाड़ी में जा बैठी। वासुदेव ने पूछा—'राजेंद्र नहीं आ रहे हैं?' सरला ने उत्तर दिया—'नहीं, तबियत ठीक नहीं है, थके हुए हैं।' और गाड़ी पैलेस की ओर चल पड़ी।

×

×

×

कमलाकांत दूसरे दिन लखनऊ लौट गया, पर वासुदेव वहीं रहा। यह कहना कठिन था कि वह प्रयाग में क्यों रहा। वासुदेव निकट वर्त्तमान का प्राणी था। वह रोज घंटों आपके साथ बैठकर बातें कर सकेगा, पर आप उसके भूत और भविष्य के बारे में कुछ न जान सकेंगे। निकट वर्त्तमान में वह खूब मनोरंजक है। उसकी वाणी में जीवन है, और इसी कारण उसकी साधारण बातचीत भी मन को मुग्ध कर लेती है।

राजेन और सरला ने तो उसे जब देखा खूब फुरसत में देखा, वह अपने एक मित्र के यहाँ पड़ोस में ही नए कटरे में, ठहरा हुआ था। सबेरे चाय पीकर चला आता ! नियमित रूप से ही राजेन और सरला के साथ एक प्याला चाय पीता, तब राजेन अपनी 'स्टडी' में घुस जाता और वासुदेव और सरला बड़े विश्वस्त ढंग से घंटों बैठकर बातें करते रहते। कभी सरला स्टोव उठा लाती, और उस पर वहीं बैठकर कुछ चीजें पकाने लगती। राजेन के लिये तश्तरी सजाकर उसके अध्ययनक्षेत्र में पहुँचा दी जाती। वासुदेव और सरला बैठक के कमरे में बैठकर खाते, बातें करते और बीच बीच में वासुदेव का विकट हास्य या सरला की खिलखिलाहट गूँज उठती।

यह हँसी या खिलखिलाहट बीच के एक छोटे कमरे को पार कर राजेन के 'स्टडी' में पहुँचती, और वह एक क्षण के लिये न जाने क्यों विचलित सा हो जाता। उसका फिलॉसफी की किताब बंद हो जाती, कलम ढीला पड़ जाता, और वह न जाने किस उलझन में डूब जाता। कभी कभी वह किताबें बंदकर बाहर चला जाता और इन लोगों की बातचीत में शामिल हो जाता, पर उसका मन उड़ा उड़ा रहता था। किसी मजाक पर जो उसने सुना भी नहीं था, अब वासुदेव और सरला को हँसते देखता; वह भी मुसकराने की चेष्टा करता। उस समय उसके चेहरे पर एक विचित्र दयनीय भाव जागृत हो जाता।

सरला में धीरे धीरे बड़ा परिवर्तन होने लगा। वह जैसे फिर शैशव की ओर लौट चली हो। उसकी मुसकराहट चौड़ी, आँखें अधिक चमकदार और बातचीत प्रखर होती चली। शरीर से कुछ अधिक स्वस्थ और मन से हल्की लगती थी। उसके जीवन में एक नया आनंद प्रवेश करता जा रहा था। क्यों, यह वह नहीं जानती थी।

वह कभी कभी यह सोचती जरूर थी कि राजेन में क्यों परिवर्तन होता जा रहा है। वह क्यों अधिक चिंतित, विक्षुब्ध और गंभीर होता जा रहा है। कभी कभी उसके मन में उठता है कि संभव है वासुदेव इसका कारण हो, पर उसका निर्दोष मन इस विचार को अधिक देर तक नहीं रख सकता था। वह खिलखिला उठती और इस बात को भूल जाती।

वासुदेव का आना कम नहीं हुआ, बढ़ता गया, देश में राजनीति की गर्मी भी बढ़ती गई। वासुदेव कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में शामिल होने लाहौर गया, फिर लौट आया। उसके बाद राजेन के ड्राइंगरूम में बातचीत का दौर और भी बढ़ता गया। वर्तमान राजनीति की छोटी छोटी घटनाओं पर बहस की जाती। स्वाधीनता-दिवस, फिर दांडी-यात्रा और तब नमक कानून का भंग, देश में एक के बाद एक सनसनीदाar घटनाएँ होती गईं और इन सबमें वासुदेव का रस बढ़ता गया, और उसके साथ सरला का उत्साह भी; भावुकता और आलस्य के लिये किसी के पास फुर्सत न थी। उन तूफानी दिनों में जब व्यक्ति के जीवन की अभिव्यक्ति राष्ट्र के जीवन में हो रही थी, प्रेम और भक्ति की बातें कौन सोचता? सरला को यह क्या पता कि वह अनजाने ही राजेन से दूर और वासुदेव के निकट खिंचती जा रही है?

राजेन ने भी कभी यह बात खोलकर उसके सामने नहीं रखी। राजेन स्वयं भी इस बात को जानता था या नहीं, सरला नहीं कह सकती। वासुदेव प्रायः आया आया था और ये लोग एक दूसरे से अधिक मिलने लगे थे, तब राजेन के मन में एक विवाद जरूर उठा था पर शायद वह गहरा न हो पाया। ज्यों ज्यों ये लोग राजनैतिक आंदोलन में पड़ते गए, राजेन अपनी डॉक्टरेट की तैयारी में लगा। इन दिनों उसे अपने थिसिस और टाइपस्क्रिप्ट से फुरसत न थी।

अंतिम कुल पृष्ठ रह गए थे, उधर प्रारंभ का हिस्सा दोहराना था। टाइपस्क्रिप्ट उसे ही पढ़ना पड़ता था।

इस सतत कायंशीलता के पीछे क्षोभ या तो मिट गया था या उसे चीरकर ऊपर नहीं आ पाता था। बहुत सबेरे चाय पीकर राजेन अपनी 'स्टडी' में घुस जाता। बस, वही उसके सरला से बातचीत करने का थोड़ा सा समय था। रात को सरला देर से लौटती, तब भी राजेन को कमरे की बत्ती जलाए, टाइपस्क्रिप्ट दोहराते और दुरुस्त करते पाती; उसे अपनी दिन भर की चर्चा, पिकेटिंग की सरगर्मी, मीटिंग्स में जवाहरलाल और पुरुषोत्तमदास टंडन और वासुदेव के भाषणों का संक्षिप्त विवरण देती, दूध के कप में ओब्रलटीन मिलाते हुए। राजेन थके चेहरे पर मुसकराहट लेकर उसकी बातचीत सुनता और दरवाजे से निकलती हुई सरला को 'गुड नाइट' कहकर फिर अपने कागजों पर झुक जाता।

×

×

×

और तब एक दिन ऐसा हुआ कि सरला और वासुदेव दोनों बड़ी देर से लौटे, पैदल, जनशून्य सड़कों को पार कर, और घर के ड्राइंग रूम में आ बैठे। रात के साढ़े बारह बज रहे थे। उन्होंने देखा, राजेन के अध्ययनकक्ष की रोशनी अभी भी जल रही थी। सरला झाँक आई—राजेन रोज की तरह, एकाग्र, टाइपस्क्रिप्ट पर झुका हुआ है, और तब फिर बातचीत में लगी। सरला और वासुदेव की बातचीत दिन पर दिन अधिक महत्त्व की होती जा रही थी। नगर के प्रमुख नेता एक के बाद एक गिरफ्तार हो गए थे, और अब वासुदेव ही डिक्टेटर था। सरला से इस जिम्मेदारी को लेने की प्रार्थना की गई थी, पर इसी ड्राइंग रूम में बैठकर एक दिन पहिले वासुदेव ने उससे कहा—  
'तुम्हारे बाद यह भार मुझ पर पड़ेगा। तब मैं फिर प्रेरणा किससे

लूँगा ? सरला, पहिले मुझे चला जाने दो । तब तुम आगे आना ।’ और सरला इस बात को मान गई थी ।

इस समय ये लोग बैठकर अगले दिन के कार्यक्रम की बातचीत कर रहे थे । वासुदेव सोचता था कि अहिंसात्मक सत्याग्रह में भी अक्लमंदी तो काम में लाई ही जा सकती है । क्यों न अब गिरफ्तारियों की इस बात को रोका जाए, और थोड़ा आंतरिक संगठन कर लें, और तब फिर आगे बढ़ें । वासुदेव को इस बात की शंका तो न थी कि कोई उसके साहस में संदेह करेगा । जनता को उसके साहस और त्याग दोनों में ही विश्वास था । वह जानती थी कि आवश्यकता पर, अपनी आत्मा के अलावा कोई चीज ऐसी न थी जो वासुदेव कुरबान न कर सके । वासुदेव ही ऐसा व्यक्ति था जिसके संबंध में जनता का ऐसा गहरा विश्वास था । इसा लिये वह इस विश्वास को थोड़ा खतरे में डालने का साहस भी कर सकता था । सरला की राय इसके विपरीत थी । वह मानती थी कि सत्याग्रही को आगा पीछा सोचने की जरूरत नहीं है, वह तो कानून तोड़े, और जेल जाए । संगठन अपने आप होगा । जहाँ सत्य है वहाँ असफलता कैसी ! सरला यह मानने के लिये तैयार न थी कि सत्य मार्ग का अनुयायी होने के साथ आदर्शों का व्यावहारिक भी होना चाहिए ।

कोई डेढ़ बजे तक यह बातचीत चलती रही, और तब अपने स्वस्थ शरीर को एक भारी कंबल से लपेटकर वासुदेव चल दिया ।

सरला वैसे ही बैठी रही ।

उसे कांग्रेस का बुलेटिन तैयार करना था । दिन भर के समाचार एक ओजपूर्ण भाषा में उसने लिखे, उन्हें दोहराया और तब विश्राम के लिये कोच पर हाथ का थोड़ा सा सहारा लेकर लेट

सी गई। राजेन के कमरे में वैसे ही लैंप जल रहा था। उसे थोड़ी झपकी सी लगी।

और तब देखा कि राजेन मोटा काला लबादा पहने उसके नजदीक चला आ रहा है, पर उसकी आँख नहीं खुली। राजेन ने उसके बिखरे हुए बालों को झकझोरकर जगाया। सरला चौंककर उठ बैठी। राजेन खाली की हुई जगह पर बैठ गया। बोला—“सरला, मैं तुमसे बात करना चाहता हूँ।” उसके गले में खराश सी थी।

सरला भौचक्की सी उसकी ओर देखती रह गई। उसकी आँखों में मानों नींद भरी थी।

राजेन बोलता गया—“सरला, मैंने तुम्हारे साथ कौन सी बुराई की है जो तुम मुझे इस प्रकार कष्ट दे रही हो?”

सरला और भी भौचक्की सी। उसकी आँखें और भी निद्रामग्ना।

अपनी साड़ी का पल्ला सँभालती हुई वह उठ खड़ी हुई, जिससे राजेन की बात को और भी ध्यान से सुन सके। भाव से मानो कह रही है, ‘तुम्हारी बात मैं समझी नहीं।’

और राजेन जैसे बड़े विरोध की आशंका करके आया था, और इसी लिये इतना नम्र, विनीत सा था, और अब सरला के अवश, अबलापन को देखकर साइस संग्रह कर रहा है—‘मैं तुम्हारे जीवन से बिल्कुल संतुष्ट नहीं हूँ। मैंने तुम्हें अधिक से अधिक स्वाधोनता दी, पर मैं देखता हूँ तुमने उसका दुरुपयोग ही किया। तुम्हारे काम में कभी बाधा नहीं डाली। तुमने जो करना चाहा, मैंने बिना रोक टोक के तुम्हें करने दिया। तुम्हारे कामों से मुझे घक्का लगा, मैंने उसे बदामत किया। मैं चुप रहा, सहता रहा, तुमसे एक लफ्ज भी नहीं कहा। तुम्हारे कारण मैं रात रात भर जागता रहता हूँ। मेरी तंदुरुस्ती गिरती रही है, मैं एक भट्टी में जलता सा रहा हूँ.....’।

इस बार सरला ने अपने भाव को शब्दों में रखा—आपकी बात मैं नहीं समझी ।

इस बार राजेन ने गरजकर कहा—मैं चाहता हूँ, तुम वासुदेव से कतई मत मिलो ।

सरला का मुँह लाल, तमतमाया हुआ, वह जैसे इस बात की बिल्कुल आशा नहीं कर रही है । राजेन के लिये उसके मन में श्रद्धा थी, अब जैसे ईंटों के ढेर के समान जमीन पर आ बैठी हो । वह नहीं जानती थी कि राजेन उसके राजनैतिक काम में बाधा देगा । वह नहीं जानती थी कि उसके मन में इतना बड़ा दुर्बल प्राणों है । इस महान् 'विचारक' का मन छोटी छोटी बातों में इतना डूबा है, इसकी उसे आशंका ही न थी ।

सरला ने गंभीरता से कहा—अपनी भावनाओं पर से इतनी जल्दी नियंत्रण उठा देने की जरूरत नहीं है, राजेन ! आओ, बैठकर थोड़ा गंभीरता से इस बात को सोच डालें । राजेन रोष में था । बोला—मैं कुछ भी सोचने के लिये तैयार नहीं हूँ । मैं सिर्फ एक बात कहना चाहता हूँ । तुम वासुदेव से मिलना कतई बंद कर दो ।

सरला ने सफाई सी देते हुए कहा—देश का काम''' ।

'वह सब ढोंग है ।—राजेन की आँखें गुस्से से लाल थीं ।

सरला कुछ हँसी । बोली—यह नहीं हो सकता ।

'यह नहीं हो सकता !'—राजेन गरजा—'मैं देखता हूँ, कैसे नहीं हो सकता ।' उसने मेज पर से एक किताब उठाई, और जोर जोर से सरला के घने बालों पर मारना शुरू किया । तब उसके हाथ में एक रूलर आ गया उससे बड़ी देर तक पीटा । और तब भी जब संतोष नहीं हुआ तो उसकी पीठ पर एक दो लातें जमाई । सरला चुपचाप,

उसकी आँखों में एक बूँद आँसू नहीं। राजेन कुछ देर और गुस्से से अपने लबादे में कौपता हुआ सरला की ओर गुस्से से घूरता रहा, और तब फिर अपने पढ़ने के कमरे में घुस गया।

सरला कुछ देर मौन बैठी रही। तब, जाड़े की रात के उस पिछले पहर में बरांडे की सीढ़ियों पर पैर लटकाकर जा बैठी। बड़ी देर तक उसका मन एक विराट् शून्यत्व का भाव लिए रहा, जैसे आँधी के पहिले वातावरण में सन्नाटा रहता है, और तब वास्तविक अंधड़ टूट पड़ा।

“यह राजेन की वाणी में कौन बोल रहा था, फ्रॉयड या जेग या एडलर; या वह राक्षस जो देवता के गले में हाथ डाले प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ है? राजेन ने मेरे और वासुदेव के संबंध में किसी प्रकार की शंका ही क्यों की? क्या हमारे संबंधों में काफी पवित्रता नहीं है? कब हम आत्मा की सतह से नीचे उतरकर शरीर में एक दूसरे से मिले हैं?”

और धीरे धीरे उसके मन में वासुदेव के संबंध की अपनी पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं। बरसों पहले जब वह इसाबेला थोबर्न में पढ़ती थी, और गर्मी की छुट्टियाँ अपने घर पर बिता रही थी, वह वासुदेव के नजदीक खिंची थी। उसके पौरुष, और उससे अधिक उसकी निर्भीकता ने उसे आकर्षित किया था। वासुदेव भी न जाने क्यों उसकी ओर खिंचा था। चाँदनी रातों में लखनऊ की सड़कों पर वह और वासुदेव एकाध बार घूमे भी हैं। वासुदेव की कठोर उँगलियाँ एक बार उसकी उँगलियों में आकर गुँथ भी गई थीं। केवल उस घड़ी वासुदेव के ओठों ने उसके ओठों का स्पर्श भी किया था। इस सबके पीछे क्या था, प्रेम या ‘सेक्स’ कौन जाने! पर; इसमें पाप कहाँ था? वे

दोनों इसमें लिप्त कब हुए ? उन्होंने कब अपने को एक दूसरे के शरीर में खोया ?

और उसके बाद तो वासुदेव उससे कम मिलने लगा था, और इस कम मिलने से वह खुश भी थी। यानी, जो क्षणिक भावनाएँ उसके मन में जागी भी थीं, उन्होंने उनसे संघर्ष किया था और वे उनसे जीते भी थे। इन सबमें पाप कहाँ था ?

और तब एकाएक ब्राम्हदेव दक्षिण चला गया था, और वहाँ सुशोला नाम की किसी महाराष्ट्र लड़की से उसकी शादी भी हो गई थी। वह लखनऊ अकेला ही लौटा था। शादी के बाद ही सरला से मिला था, और उसे अपनी डायरी के कुछ पृष्ठ सुनाए थे। उनमें विवाह के प्रति असंतोष था। सरला उन्हें सुनकर दुखी हुई थी। पर उन दिनों स्वयं उसकी शादी की बातचीत चल रही थी। एक-दो महीने बाद उसकी शादी हो भी गई, और वह इलाहाबाद चली आई।

वासुदेव जब से इलाहाबाद आया था, तबसे उनके संबंधों में किसी प्रकार की अपवित्रता की बात तो सोची ही कैसे जा सकती है। वे दोनों एक दूसरे के प्रति स्नेहशील रहे। पर स्नेह क्या पाप है ? और जिस सतह पर वह पाप हो जाता है, उस ओर वे लोग झुके ही कब ? दोनों घंटों, दिनों, हफ्तों, एक दूसरे के नजदीक रहे, बिल्कुल पास पास, पर एक विशाल सार्वजनिक आंदोलन की उच्चाल लहरों में डूबते-उतराते। उन्हें कब फुसत मिली है कि अपने हृदय में एक दूसरे के प्रति भाव-प्रवणता को स्थान दें ?

इस विशाल आंदोलन में ही वे एक दूसरे के नजदीक आए हैं; पर आंदोलन न होता तो भी वे एक दूसरे के नजदीक इसी प्रकार पवित्रता की इसी सतह पर खिंचते तो क्या पाप था ? वे जानते हैं, पाप क्या है, और उस पर सतर्क रह सकते हैं। उनके बीच जो पवित्रता का सूत्र है

उसे अपनी शंका की कुल्हाड़ी से काटने की कोशिश कोई दूसरा व्यक्ति क्यों बीच में पड़कर करे ?

वह दूसरा व्यक्ति चाहे कोई हो, पति ही क्यों न हो। पति भी तो बाहर की ही चीज है, हिंदू शास्त्र चाहे कुछ भी कहें। पति को क्या यह अधिकार है कि वह पत्नी की भावनाओं के लिये नियमावली तैयार किया करे ?

और भावनाओं के लिये सख्त, संकुचित, अटूट नियम कौन बना सकता है ? पति और पत्नी, भाई और बहिन, पिता और पुत्री के अलावा बीच के कोई संबंध नहीं हैं ? मानवी हृदय को इन प्रचारग्रस्त रूढ़ियों से क्यों बांधा जाना चाहिए ?

राजेन ने उसे स्वाधीनता दी है। सचमुच उसने कभी उसके किसी काम में बाधा नहीं डाली। आज वह बाधा डालने चला है तो केवल इसीलिये कि वह दुखी है, और सरला पर अपना अधिकार मानता है ? पर पुरुष अगर स्त्री को स्वाधीनता दे तो मकान की चोटियों से इस बात का एलान करने की जरूरत क्यों समझे ? और उसे वापिस लेने का अधिकार भी क्या है ? क्या वह स्वाधीनता स्त्री का मानवी अधिकार नहीं है ?

राजेन दुःखी क्यों है ? सरला गलत रास्ते पर है तो उसे खुद दुःख होना चाहिए। पर उसे दुःख नहीं है। वह देखती है कि जब से वासु देव उसके जीवन में आया है, वह सवेरे की हवा, ताजगी और प्रकाश लेकर आया है। उसके जीवन में एक नया आनंद है। वह पूर्णता की ओर बढ़ चली है। वासुदेव ने उसके जीवन को धनी बनाया है। वह उसका तिरस्कार कैसे करे ? जीवन की पूर्णता ही क्या सबसे बड़ी चीज नहीं है ? उसके लिये कौन सा बलिदान छोटा है ? पति की गलत इच्छाएँ क्या जीवन की पूर्णता से बड़ी वस्तु हैं ?

और सरला धीरे धीरे एक निश्चय पर पहुँच गई—वह राजेन की आज्ञा नहीं मानेगी। व्यक्ति को अपने पैरों पर खड़े होना होगा। वह राजेन के यहाँ उसके स्नेह का पात्र, उसके जीवन की संगिनी बनकर रह रही है, उसकी इच्छाओं की गुलाम बनकर नहीं। वह विद्रोह करेगी, आत्मा बेचकर वह इस घर में नहीं रहेगी। राजेन उसे रखना चाहता है तो वह उसके व्यक्तित्व को कुचलकर नहीं रख सकेगा। उसके विकास में वह कोई बाधा नहीं डाल सकेगा, उसके जीवन की पूर्णता के रास्ते में नहीं आने पाएगा।

काला अँधेरा आकाश भूरा हो चला। तारे एक के बाद एक बुझते जा रहे थे। सरला अपने बरांडे की सीढ़ियों पर ही बैठी थी, जब सबेरा फूट चला। अब उसके शरीर में एक विचित्र आह्लाद, आनंद भर गया था। उसे अपनी समस्या का निदान मिल गया था। वह खुश थी। निदान इस विशाल सार्वजनिक आंदोलन में मिला या उसकी आत्मा के मंथन में कौन जाने; पर वह उसे अपने जीवन में संपूर्ण उतार लेने के लिये कटिबद्ध हो गई थी। वह इस निश्चय पर पहुँच गई थी कि जहाँ वह रहेगी, जिस जगह वह खड़ा होगी, रानी बनकर रहेगी। उसके मनुष्यत्व को कोई ठुकरा नहीं सकेगा। सरला ने अपने बालों को पूरा खोल डाला। उन्हें कमर पर डालकर सिर को कई बार हिलाया। बाग में थोड़े से फूल चुने और ओठों में एक वक्र मुसकराहट छिपाए नौकर से कहती हुई—‘देखो, दो अच्छे चाय के कप तैयार करो, वासुदेव बाबू आने वाले हैं’ नहाने के कमरे में घुस गई।

## चाची

[ श्री विष्णु ]

[ १ ]

जब उसने जाना जगदीश आ गया है तो पुकारा—‘जगदीश भैया !’ जगदीश ठिठक गया । जी में आया कह दे कि जगदीश मर चुका है परंतु जब तक वह सोचे, चाची फिर बोली—चिट्ठी डाल दी थी, भैया ?

‘डाल दी थी ।’

‘कल पहुँचेगी ?’

‘जी हाँ ।’

‘अच्छा भैया ! कल कुछ खबर आए तो उसी समय बता जाना; भला न ?’

जगदीश ने जल्दी से कहा—जरूर चाची ।

और कहकर वह आगे बढ़ गया । उसने यह कहना भी उचित नहीं समझा कि कल पहुँचनेवाली चिट्ठी का जवाब कल ही नहीं आ सकता । वह समझता था कि ऐसा कहने पर चाची की चिंता बहुत बढ़ जायगी और वह उसके अनेक प्रश्नों का उत्तर देता देता दुखी हो उठेगा ।

बात यह थी कि चाची का लड़का देहली पढ़ता था । वह बहुत दिन बीमार रहा था । अब वह स्वस्थ हो चला है, परंतु माँ को विश्वास नहीं हो पाया है । इसी से वह प्रतिक्षण उसका कुशल-समाचार जानने

को उत्सुक और सजग रहती है। इतनी सजग कि जगदीश बार बार उस पर चिनचिना पड़ता है।

अगले दिन ठीक समय पर पोस्टमैन ने पुकारा—जगदीश बाबू, चिट्ठी लोजिए।' चाची रसोईघर। उसने सुना और दौड़ी। चिट्ठी उसने ले ली। बंद लिफाफा था। बड़े गौर से उसे देखकर सोचा अवश्य ही ज्ञानू की चिट्ठी है। ऐसी लिखावट उसी की होती है। कई बार देखा है, वह ऐसे ही लिखता है। वह सोच रही थी कि कहारी आ गई, बोली—किसको चिट्ठा है जी ?

‘ज्ञानू की।’

‘अब तो वह अच्छा है न ?’

चाची ने लंबी साँस खींचकर कहा—कौन जाने बीनू की माँ ? यह रोग क्या ऐसे ही जाता है ! भाग्य फूटे है मेरे कि बेटे के पास भी नहीं रह सकती। पिछली चिट्ठी में लिखा था—‘भूख कम लगती है.....’ और कहती कहती चाची की आँखों में आँसु भर आए। बोली—नहीं खाएगा तो जिएगा कैसे ? रात-दिन पढ़ता ही होगा.....

‘ना, ना, चाचीजी !’—बीनू की माँ बीच ही में बोल उठी—‘ऐसे अशुभ न बोलो। जुग जुग जिएतुम्हारा ज्ञानू, यह सुख-दुख तो चलते ही हैं।’ उसे जाना था चली गई। चाची फिर रसोईघर में जा बैठी पर कान उसके दरवाजे पर थे—आज कहाँ रह गया जगदीश। धूप आँगन में उतर आई, पर वह नहीं लौटा !

भंगी शायद सफाई के लिये आया। चाची ने आवाज सुनी तो चट पुकार उठी—जगदीश !’

भंगी बोला—मैं था, चाची।

चाची क्या कहे ? वह फिर सोचने लगी—ज्ञानू ने लिखा होगा, मुझे भूख तो लगने लगी है पर खाना पचता नहीं । जो खाता हूँ कलेजे पर रखा रहता है...और चाची बोल उठी—यही तो जड़ है । पचता नहीं तो भूख झूठी है ।

तभी आ गया जगदीश—तुमने मेरी चिट्ठी ली है, चाची ?

चाची उठी और चिट्ठी ले आई—ज्ञानू की चिट्ठी है, पढ़ तो सही ।

जगदीश ने चिट्ठी को देखा—बोला—ज्ञानू की नहीं है ।

चाची हतज्ञान, हतप्रभ खड़ी की खड़ी रह गई, मानों कुछ लुटा बैठी है । उसका हृदय धक धक कर उठा—ज्ञानू की नहीं है ? अभी तो वह सोच रही थी चिट्ठी ज्ञानू की है । उसने लिखा है मुझे भूख तो लगती है इत्यादि इत्यादि और अभी जगदीश कहता है चिट्ठी ज्ञानू की नहीं है । चाची कैसे माने, अक्षर तो वैसे ही हैं.....

जगदीश लौट चला तो चाची ने फिर पूछा—किसकी चिट्ठी है भैया ?

‘एक दोस्त की है, चाची ।’

‘दिल्ली से आई है ?’

‘हाँ’

‘तो वह ज्ञानू को जानता होगा । कुछ लिखा है क्या ?’

जगदीश को क्रोध भी आया और हँसी भी । बोला—कुछ नहीं लिखा । वह ज्ञानू को नहीं जानता ।

चाची मन मारकर चुप हो गई लेकिन उसका हृदय शान्त नहीं हुआ और अगले दिन ही जब जगदीश ने आकर कहा—ज्ञानू के पास से चिट्ठी आई है चाची ! तो चाची ने न जाने क्या पाया—ज्ञानू की चिट्ठी है ?

हाँ ! सीता दिल्ली आ गई है । उसने लिखा है कि भइयाँकी छुट्टियाँ होनेवाली हैं और दस-पंद्रह दिन में वे दानों साथ ही घर आएँगे ।’

‘और.....’

‘और कुछ नहीं, बस ।’

‘भूख का नहीं लिखा ।’

‘कुछ भी नहीं लिखा ।’

चाची जैसे फिर खो चली । चिट्ठी लेकर उसने कई बार उलटी-पुलटी । अक्षर तो बहुत हैं । जगदीश शायद पढ़ना भूल गया । बोली—तुमने सारी चिट्ठा पढ़ी है न, बेटा ! खाना उसे अब पच जाता है न ?

जगदीश अब अंदर ही अंदर क्रोध से जल उठा । कैसी औरत है यह ? सुनना चाहती है कि लड़का अभी बीमार है । वह बोला—चाची ! तुम चाहती हो जानू सदा बीमार ही रहे !

‘कैसे रे !’

‘कैसे क्या ? अगर कुछ होता तो वह लिखता न ! लेकिन तुम ! तुम समझता हो वह अभी अच्छा नहीं हो पाया है ।’

चाची अचरज से बोली—नहीं बेटा; तू क्या कहने लगा ? मैं उसका बुरा कैसे चाहूँगी ?

जगदीश अभी गुस्से से भरा ही आ रहा था—चाहती हो चाची, तभी तो शंका बनी रहती है । यह भी क्या समझता है ?

चाची की आँखों में आँसू भर आए । बोली—जगदीश बेटा—यह बात मेरे बस की नहीं है । अंदर से न जाने कौन मुझे रात-दिन तंग किये रखता है । मैं तो सो भी नहीं पाती । तू नहीं समझ सकता !

समझे भी कैसे ? जिस दिन औलाद को तकलीफ होगी तो चाची की बात जानेगा..... ।

और वह आँचल से आँसू पोंछती हुई चली गई । लेकिन जगदीश को निश्चय हो रहा था कि यह ममता राक्षसी है जो सदा दुःख की ही कल्पना करती रहती है ।

## [ २ ]

चाची इसी उलझन में फँसी रही, परंतु समय की गति में उलझकर दुनिया बहुत आगे बढ़ गई । कई खँडहर जीवन की उमंगों से पूरित हुए—जिनके पास जीवन था वे उसे खोकर चेतनाहीन हो गए । चेतना गिरी, चेतना उठी । प्रकृति का नियम नियमित परिवर्तन से वहीं स्थिर रहा पर संसार विदा और स्वागत के झमेलों में फँसकर बहुत आगे बढ़ गया और इसी एक रात्रि को जगदीश चाची के दरवाजे पर पुकार उठा—चाची, चाची... !

चाची हड़बड़ा उठी । कौन है जो आधी रात को इस प्रकार पुकार रहा है !

जगदीश फिर बोला—चाची !!

चाची चौंक पड़ी—कौन रे, जगदीश ?

और उसी तरह चली आई—क्यों रे ! कैसे आया इतनी रात को ?  
‘वह बुलाती है ।’

‘तेरी बहू ! विधु का क्या हाल है ?’

‘देख लो..... !’

और जगदीश कुछ न कह सका । चाची ने समझा, बोली—  
पगला है तू ! घबराता क्यों है, चल ।

और उधर ।.....

विधु दो वर्ष का बच्चा संज्ञाहीन सा चारपाई पर पड़ा था । नेत्र उसके स्थिर करुणा से पूरित थे । गले पे विचित्र आवाज आ रही थी । जैसे कुछ अटक गया है, न नीचे जाता है, न ऊपर आ रहा है । पास बैठी हुई माँ बेबस सी उसे देख रही थी । उसका हृदय धक धक कर रहा था । उसकी आँखों में आँसू बह रहे थे । उसके मन में भगवान् का नाम था । दुःख के समय जिस अवलंब की जरूरत होती है उसी को तो भगवान् कहते हैं ।

चाची आकर किसी से नहीं बोली । क्षण भर बच्चे को देखती रही—देखती रही । फिर बोली—गले में कुछ अटका है । सुनो तो बहू ।

बहू आशा भरे हृदय से बोली—जी !

शहद की एक फुरेरी तो बना लाओ ।

बहू उठी और फुरेरी बना लाई । चाची ने आहिस्ता से बालक का मुँह खोलकर गले में शहद छुड़ दिया ।

और फिर देखने लगी । क्षण बीता बीता कि विधु की आँख खुल गईं । वह हिला मानों चेतना आई.....

चाची बोली—विधु बेटा, आ.....

विधु ने आँखें उठाईं मानों आवाज पहचानना चाहता हो ।

चाची फिर बोली—किसका बेटा आ.... ।

कि बालक सहसा बोल उठा—तुम्हारा ...

माँ के जैसे प्राण लौटे । चाची उसे साक्षात् जगदंबा सी लगी लेकिन चाची बोल उठी—बच्चा उसकी गाँद में चिपक रहा था—

औलाद को पालने के लिये कितनी हिम्मत की जरूरत है यह मैं जानती हूँ। तुम न जाने कैसी हो, तनिक दुःख देखा और रो दीं। अरे कहीं रोग से बीमारी दूर होती है ... !

बहू क्या कहे ?

‘ले सँभाल ! खबरदार जो रोई। मालूम होता है दवा ठीक ठीक पीसी नहीं थी। कोई कणी हवा की नली में अटकती है। अभी कई बार शहद चुपड़ने की जरूरत होगी, समझी।’

और न जाने क्या क्या कहती हुई वह चल पड़ी।

जगदीश अभी तक स्थिर एक कुर्सी पर बैठा था।

उठ खड़ा हुआ.....

‘नहीं नहीं, बैठ तू’—चाची बोली—‘मैं चली जाऊँगी, पर कहती हूँ डरना मत। बच्चा जल्दी ही ठीक हो जायगा। जरा से दुःख से भी कहीं इतना घबराया जाता है, मुझे नहीं देखता।’

जगदीश जैसे पिघलता चला। उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया। बोला कुछ भी नहीं। और चाची चली गई।

सबेरे जब जगदीश डाक्टर के यहाँ जाने लगा तो चाची फिर आ गई, जगदीश बेटा ! बाजार से आकर मेरी चिट्ठी लिख देना। अब मैं यहाँ न रहूँगी। शानू के पास जाऊँगी।

जगदीश चौंक पड़ा क्यों चाची ?

भैया, अकेला कब तक छोड़ूँ ! अपने शरीर की परवा वह नहीं करता। अब फिर लिखा है कि खाँसी हो रही है। क्या करूँ बेटा.....’

जगदीश क्या कहे ! जैसे चाची का जाना उसे रुच नहीं रहा है।

चाची फिर बोली—अच्छा रे, आकर चिट्ठी लिख देना कि कल स्टेशन पर आ जावे ।

‘अच्छा चाची ।’

जगदीश चला कि चाची फिर बोली—उधर डाकदाने होते आना । सीता की चिट्ठी नहीं आई । उसका लड़का भी तो बीमार चला आता है ।

जगदीश बोला—जाऊँगा चाची ।

और जगदीश चला गया । उसे न जाने क्यों चाची की एक बात पर भी क्रोध नहीं आया अपितु श्रद्धा उमड़ पड़ी । जैसे आज ही पहली बार जगदीश ने चाची को पहचाना हो ।

बाहर से वह लौटा तो चाची सामान बाँधने में लगी थी । बोली—चिट्ठी आई रे !

‘आई है । सीता ने लिखा है कि मोहन अभी बीमार ही है...’

पूरी बात सुने बिना ही चाची बोल उठी—जानती हूँ बेटा । इन सबको मैं जानती हूँ । मेरे पेट में ही पले हैं, सदा के रोगी । अच्छा, मैं अब जाऊँगी ही ।

जगदीश कुछ भी नहीं बोला । चुपचाप लौट चला । उसे न जाने क्या आशंका सी घेरे आ रही थी । मन घबरा रहा था । और वह चाहता था चाची न जाय । क्यों ? यह वह नहीं समझता था । इसी से आग्रह भी न कर सका ।

उधर चाची का जाना सुनकर बहुत सी स्त्रियाँ आ गईं । उन सबका एक ही प्रश्न था—जा रही हो, चाची ?

चाची बोली—शानू को खाँसी है, सीता का लड़का बीमार है । ये क्या मुझे जीने देंगे ! औलाद क्या हुई, पूर्वजन्म की दुश्मन है दुश्मन, बेटी ।

चाची के वहम के कारण वे सब उससे बहुत तंग थे । जिस किसी को वह अपनी रामकहानी सुनाने बैठती उसको मानों एक जून व्रत रखना होता था । व्रत का यह पुण्य सहज ही उन्हें देकर वह गाली पाती थी, लेकिन उसने कभी किसी बात की चिंता नहीं की । जिसने एक बार भी शांतिपूर्वक उसकी गाथा को सुना वह कई दिन तक उसके स्नेह का पात्र बना रहा था ।

और जब चाची बोली 'मैं जाऊँगी तो सबने जैसे महसूस किया कि उनका कोई प्रिय संबंधी उन्हें छाड़कर चला जा रहा हो । वे एक एक करके उसकी कोठरी में जमा हो गईं । पूछने लगीं—तुम जा रही हो चाची ?

चाची कहने लगी—शानू को खाँसी है इत्यादि.....

और वे सब सुनाती रहीं । किसी ने प्रतिवाद न किया । किसी ने बुरा न माना । बल्कि एक बोली—चाची ! तुम मत जाओ ।

चाची चिहूँक पड़ी—न जाऊँ ! खूब बेटी ! बेटा मेरा दुःख पावे, बेटी कष्ट में हो और मैं न जाऊँ । तुम क्या जानोगी, बेटी ? रात रात जागती रहती हूँ । तुम्हारी गोदी अभी भरी ही कहाँ है ? भगवान् करे तुम संतान का मुख देखो, तब जानोगी...।

और कहती कहती चाची की आँखों में पानी भर आया—औलाद ! यह औलाद पिछले जन्मों की दुश्मन होती है ।

बोलनेवाली खिसियानी सी हो आई, बोली—'मैं यह नहीं कहती थी, चाची !' चाची ने उसकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया मानो

दूसरे की बात सुनना उसका काम था ही नहीं। वह बोली—अच्छा ! मैं देखूँ, जगदीश का लड़का कैसा है ? बहू नहीं आई। और मुझे अभी चले जाना है।

विधु उसी तरह संज्ञा-हीन सा लेटा था।

×

×

×

×

रात के संघर्ष ने बालक को थका डाला था। उसको बहुत तेज बुखार चढ़ आया था। माँ भयाक्रांत सी उसे देख भर रही थी कि जगदीश ने आकर कहा—चाची जा रही है

‘जा रही हैं ?—बहू कह गई। और जैसे उसे लगा—एक अवलंब था वह हटने सा लगा। आँधी आ रही है और झोंपड़ी की कमजोर छत बच न सकेगी। लेकिन बेचारी करे क्या ?

जगदीश ने चुपचाप दवा घोली और पिलाता पिलाता बोला—विधु !.....लेकिन ज्वर से आक्रांत बालक न बोला न हिला। उसी तरह पड़े पड़े एक बार रो सा दिया।

तभी माँ ने चाहा ललककर उसे छाती में चिपका ले कि जगदीश बोल—हँ हँ ! उठाना मत ! डाक्टर ने मना किया है !

माँ ठिठककर रह गई। तभी आ गई चाची—क्यों री विधु कैसा है ?

‘वैसा ही है।’

चाची ने देखा, बोली—‘बुखार की तेजी है। दवा दी है न ?’

‘अभी दी है।’

‘बस ठीक है। ठीक वक्त पर दवा देती रहना, लेकिन घबराना नहीं। मैं जानती हूँ, आँसू तुम्हारे पलकों में हैं पर रोंने से कष्ट दूर नहीं होते। उससे तो जम जाते हैं।’

और उठती उठती बोली—मैं अब जा रही हूँ । जगदीश कहाँ है ?

जगदीश वहीं पास ही था, बोला—कहो चाची !

‘कहना यही है कि बच्चे का ध्यान रखना ! बहू अभी बालक है, समझा, घबराना मत !’

जगदीश नहीं बोला ।

‘अरे भैया ! यह ‘औलाद’ दुश्मन है जगदीश, दुश्मन ! मुझे तो देख बुढ़ापे में भी चैन से नहीं बैठने देती.....’

जगदीश ने साहस किया—अभी तुम रुक जाओ, चाची ।

‘रुक जाऊँ !’—चाची हँसी सी । ‘अरे बेटा । कैसी बात कहता है ? जानू क्या मेरे बिना जिएगा ? खून का प्यासा है । सीता है पगली लड़की ! न जाने क्यों भगवान् उन्हें औलाद देता है जो पालना भी नहीं जानते । मैं तो जाऊँगी ही पर तू डरता क्यों है ? मुझे तो देख !’

वह उठी और अपनी कोठरी में चली आई । स्त्रियाँ अभी तक वहाँ बेसी थीं ।

चाची कहती रही—बड़ी आफत है ! जानू को खाँसी है । सीता का लड़का बीमार है और इधर विधु.....

कि जगदीश आकर बोला—गाड़ी का वक्त हुआ, चाची, चलो स्टेशन तक पहुँचा दूँ ।

‘जगदीश बेटा’—कहती कहती चाची बाहर आई—‘सोचती हूँ.....’

जगदीश बोला—टमटम ले आया हूँ ।

चाची ने कहा—मैं कहती थी कि बेटा ! आज मुहुर्च टल गया है । टमटम लौटाकर तू जानू को एक जरूरी चिट्ठी लिख दे कि सीता को लेकर पहली गाड़ी से वहाँ चला आए । मैं न जाऊँगी !

और अंदर आकर गठरी जो बाँधी थीं उसे खोलने लगीं ! ब्रियॉ अचरज से उसे देखती ही रह गईं ।

आश्चर्य और हर्ष से जगदीश की आँखों में आँसू भर आए ।

— — —

## परिवर्त्तन

[ श्री वीरेश्वर सिंह ]

कुटी के लिये एक छोटा-सा दीपक काफी है और मनुष्य-जीवन के लिये एक छोटी सी बात—परिवर्त्तन के प्रकाश में अंधकार के अपरिचित मुसकराते हैं, आँखें मिलती हैं, बातें खुलती हैं और एक महान् क्षण में संसार बदल जाता है ।

एक जरा सी नजर, एक छोटी सी आह, एक उड़ती हुई मुस्कान—दुनिया की इन्हीं छोटी-छोटी बातों में तो उसकी आत्मिक शक्ति भरी है—कलेजे में ये छुरी सी तैर जाती हैं, आत्मा कसक उठती है, दिल के साथ ही साथ जमीन आसमान एक नए रंग में खिल उठते हैं और हम आश्चर्य से देखते हैं—अरे ! यह क्या ?

आज रामू के हृदय को कोई देख सकता तो वह कह उठता—‘अरे ! यह क्या ?’ वह लबालब हो रहा था और भरे हुए मानस में उसकी आत्मा ऊपर उठकर खिल रही थी ।

रामू फेरी लगाने निकला था इस जीवन-स्वप्न में, मिट्टी की पृथ्वी पर, मोम के खिलौने बनाना और बेचना कोई अनुपयुक्त रोजगार नहीं, और रामू यही करता था । वह मोम की चिड़ियाँ बनाता; उनमें लाल, पीला, हरा रंग देता, और उन्हें एक डोरे के सहारे अपनी लकड़ी से झुला देता । वह रोज सुबह निकल जाता और शाम होते होते कुछ न कुछ कमा लाता । रंग-बिरंगी झूमती हुई चिड़ियों की पंक्ति में बालकों के मन उड़कर लटक रहते और रामू ललचाती हुई आवाज से गाता—

“लल्ला की चिरैया हैं, भैया की चिरैया हैं।

जिसके होवेंगे खिलैया, वही लेवेगा चिरैया,

वाह वाह री चिरैया।”

चलते चलते रामू ने आवाज लगाई—‘लल्ला की चिरैया हैं, भैया की चिरैया हैं।’—उसकी भरी बेधती आवाज गाँव के घरों में गूँज उठी। बच्चे उछल पड़े। कितने ही घरों में ‘अम्माँ ऊँ...ऊँ’ और रोना ठुमुकना मच गया।

रामू कहता जा रहा था—‘जिसके होवेंगे खिलैया, वही लेवेगा चिरैया, वाह वाह री चिरैया।’

यह चोट थी। बिना बच्चोंवालिओं ने एक गहरी साँस भरी और माताओं के अंतर में, चुपके से, एक अनिर्वचनीय सुख दिप उठा।

रामू चला जा रहा था। खरीदनेवाले उसे खुद बुलाते, मोल-भाव करते और लेते या लौटा देते। कितने ही बालकों ने उसे बुलाया, कितनों ही ने उससे मोल-भाव किया। वह एक चिड़िया दो पैसे में बेचता था। इससे कम में किसी को न देता था। जो ले सकते वे लेते, जो न ले सकते वे मन मारकर रह जाते। एकाएक किसी ने रामू को पुकारा—‘ओ चिरैयावाले!’ रामू लौट पड़ा।

एक द्वार पर एक वृद्ध और उसी के पास एक पाँच साल की बालिका, उसी से लगी हुई, आधी उसी पर लदी हुई बैठी थी। रामू के पहुँचते ही वह खिल उठी। वह एक चिड़िया जरूर लेगी। मुनमुनाकर उसने कहा—‘ना री, वही वह लाल लाल सी...’

‘अच्छा ठहर तो’—वृद्धा बोली—‘भैया कैसे कैसे दीं, ये चिरैयाँ?’ वृद्धा ने रामू से पूछा।

‘दो दो पैसे माई!’—रामू बोला।

‘ठीक बतलाओ तो ले लूँ, एक इस बच्ची के लिये ।’—बृद्धा ने कहा । बालिका का हृदय दुप्-दुप् कर रहा था । वह मन ही मन मना रही थी—‘हे राम, यह चिरैयावाला मान जाय ।’ आशा, संदेह, हर्ष, निराशा उसके हृदय में कुछ चुभों से रहे थे । आकांक्षा तड़प रही थी, उम्मीद चकोर सी आँखें लगाए बैठी थी । सौदागर क्या कहेगा ? वह क्या कहनेवाला है ? यह उसके लिये भाग्य का प्रश्न था । उसके कान सुन रहे थे, जब रामू ने कहा—‘नहीं माई, कम ज्यादा न होगा; दो दो पैसे तो सभी को देता हूँ ।’

बृद्धा ने कहा—‘अच्छा, तो तुम्हारी मर्जी । दो दो पैसे तो बहुत हैं ।’

सौदागर मुड़ पड़ा । लड़की का चेहरा उतर गया; उसका दिल झूब गया । उसकी आशा कहाँ थी ? चिड़िया के साथ खेलने, उसे उड़ाते हुए दौड़ने और हँसने की खुशियाँ कहाँ थीं ?

‘नानी ! दो पैसे क्या बहुत हैं ?’—उसकी आत्मा चीख रही थी ।

‘सौदागर ! तुझे एक पैसा कम करना भी क्या बहुत है ?’—उसकी आकांक्षा बिलख रही थी । बालिका की बड़ी बड़ी आँखें उस सौदागर को, उन चिड़ियों को अपनी ओर खींच सी रही थीं । उनमें निराश आशा गूँजी सी मुँह फैलाए कह रही थी—जरा ठहरो तो, जाते कहाँ हो ?

बृद्धा ने बालिका के सिर पर हाथ फेरकर, पुचकारकर कहा—‘जाने दे बेटी, दूसरा कोई आवेगा तो ले दूँगी ।’ इस खोखले ढाढ़स को जैसे बालिका ने सुना ही नहीं । वह उठी और डबडबाई आँखों से घर के भीतर चली गई ।

किंतु न जाने क्या बात थी कि आज सौदागर रामू के हृदय में उस भोली बालिका की निराश आँखें चुभ गईं । वह ‘नहीं’ करके

लौटा तो, पर उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे वह गंगा के किनारे तक जाकर बिना नहाए लौट रहा हो। उसने इस भाव को भुलाने की कोशिश की, किंतु जाने क्यों वह स्वयं उसमें भूल गया। उस पर जाने कहाँ से चिनगारियाँ बरसने लगीं—‘नहीं, मैं ठीक नहीं कर रहा हूँ। उस बेचारी बच्ची के कामल हृदय पर मैं ईंट मारकर चला आया। उसका चेहरा कैसा उतर गया था ! और उसकी आँखें—उफ—कैसे देख रही थीं.....नहीं, नहीं.....यह ठीक नहीं। रोजगार के मतलब यह थोड़े ही हैं कि मैं इस तरह बे दिल का हो जाऊँ। क्या होता यदि मैं एक ही पैसे में उसे दे देता तो !...कोई घाटे का पहाड़ तो टूट न पड़ता। न सही, एक वक्त तंबाकू न पीता, बिना साग के खा लेता।.....बच्चों का मन तोड़ना, राम, राम, भगवान् की मूर्ति तोड़ना है। चलो दे आऊँ.....पर.....अब क्या ? अब तो इतनी दूर चला आया; और फिर रामू, तुम भी निरे बुद्धू हो। हूँ; रोजगार काने चले हो कि इन छोटी छोटी बातों पर ताना बाना बुनने। इसमें तो यह होता ही है। यही हाल रहा तो कर चुके अपना काम। कोई न खराद सके तो इसमें अपना क्या वश ? राम की मर्जी है। पर...नहीं...।’

रामू ने, मानो जगकर, ठीक से सिर उठाया। एक साँस के बहाने दिल में हिम्मत भरा। इतने तक वितर्क पर भी उसने देखा कि काम नहीं चल रहा है। कुछ है, जो काट सा रहा है; जो मस्तिष्क के तर्क से अधिक बलवान है। रामू ने देखा कि चुप रहने से तो विचार उमड़ेचले आते हैं; जिस चीज को वह दबाना चाहता है वह उमड़ी ही पड़ती है। इसलिये उसने सोचा कि चिल्लाकर आवाज के बहाने अंदरवाली चीज का उफान बाहर कर दूँ। इसलिये ‘पर...नहीं’ के बाद उसने सिर ऊपर किया और साँस के बहाने दिल में हिम्मत भरते हुए कहा—‘लल्ला की चि...।’ पर यह क्या ! उसकी आवाज बैठ सी गई थी। शब्द

उसके गले में अटक रहे । गले में वह जोर ही नहीं रह गया । उसका मन बोलने को कर ही नहीं रहा था । उसकी वह शक्ति कहाँ चली गई ? वह चाहता था कि बिना बोले ही उसकी चिड़ियाँ बिक जायँ तो अच्छा । किंतु किसी ने सामने से उसे रोककर बड़ी गंभीर आवाज में कहा—‘चले कहाँ जा रहे हो ?’ रामू लौट पड़ा । चाहे जो हो, वह यह न करेगा । बच्चों के मन के टूटे हुए टुकड़ों से अपना महल उठाना उसे असह्य था । उसी दरवाजे पर पहुँच कर उसने पुकारा—‘माई ! ले लो चिरैया ।’

घर के अंदर आवाज पहुँची तो वृद्धा ने कहा—‘कौन है ?’ पर बालिका की आँखें चमक उठीं । निधि को लौटी समझ वह सुख-विह्वल हो गई । वह दौड़कर बाहर गई, फिर दौड़कर भीतर आई—‘अरे नानी, वही, वही चिरैयावाला है !’ वह कुहुक उठी—‘चल, चल, जल्दी चल, मेरी नानी, ऊँ ऊँ ऊँ ।’ वह वृद्धा की उँगली पकड़ कर खींच ले गई ।

‘ले लो माई, पैसे ही पैसे ले लो ।’—सौदागर ने वृद्धा को देख, आँखों से बालिका पर आशीर्वाद बरसाते हुए कहा ।

‘लाओ, आखिर को इतना हैरान हुए, पहले ही दे देते तो ?’—वृद्धा बोली ।

बालिका ने झट बढ़कर एक लाल लाल सी चिड़िया ले ली । वह खिल उठी । वह कभी हिलती हुई चिड़िया को देखती, कभी अपनी नानी को और कभी सौदागर को । उसका शिशु हृदय सुख की एक ही तारिका से चमक उठा ।

सौदागर चिड़िया पैसे पैसे ही को दे रहा है, यह बात फैलते देर न लगी । उसका सब माल देखते ही देखते बिक गया ।

घर पहुँचकर रामू ने देखा कि लागत भी नहीं मिली। दो आने का घाटा रहा और मेहनत अलग। पर उसका हृदय आनंद से ओत प्रोत था। उसकी आत्मा खिल रही थी। मुस्कुराते हुए पैसों की ओर देखकर वह कह उठा—रामू, तुम्हारे ऐसे खुद बिकनेवालों से रोजगार न होगा, इसके लिये काठ का हृदय चाहिए।

इतने ही में उसका छोटा बालक बाहर से दौड़ता हुआ आकर लिपट गया—‘बाबू गोदी...’—रामू ने उसे उठाकर चूम लिया। ‘आज तू बड़ा अच्छा लगता है, मेरा लल्ला!’—रामू ने दुलारते हुए कहा। बालक गोद में और सिमट गया और रामू ने उसे फिर चूमकर हृदय से लिपटा लिया।

बालक को प्यार करके जितनी शांति उसे आज मिल रही थी, उतनी कभी न मिली थी।



## पराई

[ श्री यशपाल, बी० ए० ]

कातिक के दिन थे । वर्षा बीत चुकी थी । दोपहर के समय आधी रात की सी स्तब्धता छा रही थी, परंतु उसमें रात की लरज और डर न था ।

पहाड़ों के ढलवानों पर खेतों की जुताई हो रही थी । सुनहली धूप में घास से मढ़ी पहाड़ियाँ, पहाड़ों के पार्श्वों पर चीड़ों के जंगल, जूते अधजुते धूसर खेत, मकानों की फूस और स्लेट की छतें, सब चकाचौंध हो रही थीं । तलहटी में जहाँ पानी कलकल बह रहा था, वहाँ गली हुई चाँदी सा झिलमिला रहा था । जहाँ वह स्थिर था वहाँ शरत् के आकाश की प्रतिच्छाया से ऐसा जान पड़ता था, मानों शरत् की नीली साड़ी रँगने के लिये नील के कुंड हों ।

पशु वृक्षों के नीचे बैठे संतोष से रौंथ कर रहे थे । स्त्रियाँ घर के आँगन में मक्का और धान को धूप दिखा रही थीं, या बरसात के सीले हुए कपड़ों को सुखा रही थीं । पुरुष जुताई में व्यस्त थे । ऊँचे वृक्षों में फाख्ता बोल रही थी, पृथ्वी पर खंजन फुदक रहे थे, झाड़ियों में झिल्ली और झींगुर अपनी आखरी तानें अलाप रहे थे । मनुष्य को फुरसत न थी; प्रकृति हेमंत की निद्रा से पहले अलसा रही थी ।

पुरली गाँव से कुछ नीचे विशालकाय चीड़ों की घनी छाया में एक बड़ा सा बरसाती तालाब है । आस पास के टीलों से रिस रिसकर इसमें बहुत सा पानी जमा होता रहता है और फिर बीस फुट नीचे बीहड़ चट्टानों पर झरने के रूप में मोती उछालता हुआ गिरा करता

है। तालाब बीहड़ चट्टानों से घिरा रहने के कारण ग्वाले पशुओं को यहाँ पानी पिलाने नहीं लाते। आमतौर पर किसी भी ज़रूरत के लिये यहाँ कोई नहीं आता। गाँव की औरतें ही दुपहर या जब तब अकेली दुकेली यहाँ कपड़े धोने आया करती हैं।

बरसात में बहुत से मैले कपड़े जमा हो गए थे। चार दिन से रक्खी छोटी बहिन पारो के साथ कपड़ा धोने वहाँ जाती थी। रक्खी के सिर घर का बोझ माँ के बराबर ही था। उसकी उमर भी सत्रह की थी। शहर होता तो न जाने क्या होता, परंतु वह था काँगड़े का छोटा सा पहाड़ी गाँव।

पहाड़ी गाँव में संस्कृति और कवित्व, शिक्षा के अभाव में कहाँ से हो? वहाँ न सौंदर्य की चर्चा, न पूजा! रोजमर्रा के सादा जीवन की गिनी चुनी बातों से ही किसी को फुरसत नहीं; लेकिन जब कभी स्त्रियाँ चर्खा कातने बैठतीं या बावड़ी पर मिलतीं, उस समय कभी किसी ने लक्खीसिंह की लड़की के चाँद की परी होने में शक नहीं किया।

यों तो सत्रह बरस की आयु में कौन लड़की सुंदर नहीं जान पड़ती? यदि सृष्टि का यह विधान न होता, तो सृष्टि की परंपरा कैसे चालू रहती? प्रकृति के इस कामचलाऊ सौंदर्य से परे जो सौंदर्य है, जिसका अस्तित्व अधिकांश में चित्रों, मूर्तियों और कविताओं ही में मिलता है, जिसकी लाग से साधारण स्त्री या पुरुष मात्र के सौंदर्य की स्तुति चलती है, वह तो कहीं ही मिलता है।

रक्खी की छरहरी देह हवा में डोलते हुए बेल के पत्ते की भाँति स्वयं ही लच लच जाती थी। उसका रंग वह था जिसके पाने के लिये शहर की चतुर रमणियाँ पर्ल शेड ( मोती-झलक ) पाउडर का व्यवहार

करती है। लंबी पलकोंवाली लंबी आँखें कानों को छू लेना चाहती थीं। माथे से सीधी उतरती लंबी नाक पतले पतले होठों को देख सहसा सीधी खड़ी हो गई थी। हँसी उसके मुँह में छिपे अनमोल मोतियों की माला को उघाड़ने के लिये पागल रहती थी।

रक्खी और पारो लकड़ी की छोटी छोटी थापियों से आहिस्ता आहिस्ता पीटकर कपड़ों को धो धोकर एक ओर रखती जाती थीं। अपने शरीर के कपड़े और सिलवारें उन्होंने सबसे पहले धोकर एक ओर सूखने डाल दिए थे। रक्खी शरीर पर केवल एक चादर लपेटे हुए थी। पारो की उमर कम होने के कारण कमर में केवल एक अँगोछा था।

रक्खी ने कहा—‘पारो ! सुक्खू के कपड़े कहाँ लाई ?’

पारो ने जवाब दिया—‘मुझे क्या पता; माँ ने जो दिया, मैं ले आई।’

रक्खी ने व्यग्र होकर कहा—‘हाय, हाय ! माँ ने सुक्खू के कपड़े तो दिए ही नहीं; वह क्या पहनेगा ? बड़ी रानी बहन है, जा भागकर ले आ।’

पारो ने एक भींगी हुई सिलवार पहनी, सिर पर अँगोछा रखा और ऊपर से कुछ धाए हुए कपड़े सिर पर रख वह घर की तरफ भाग गई।

पारो चट्टानों के परे दस कदम ही गई थी कि रक्खी के मन में खटका हुआ। उसके मन ने कहा—पारो को भेज, अकेले रह उसने अच्छा नहीं किया।

उसे सहसा पूरन का ख्याल आया। पूरन बीस इक्कीस बरस का नौजवान था। उसका मकान पुरली के सामने पानी की पतली धार के उस पार पहाड़ के ढलवान पर बसे पनेड़ी गाँव में

था। वह नंबरदार का लड़का था। आस पास के सभी लोग पूरन की तारीफ करते थे। बहुत समझदार नौजवान, घर बार का काम बड़े लगन से देखनेवाला; बड़े भाइयों के सामने उसने कभी आँख नहीं उठाई थी।

लेकिन रक्खी उससे नाराज थी। वह उससे डरती थी। पाँछ छः दफे पूरन उसे बाबड़ी पर या सुबह शाम नाहर जाते या लौटते समय मिला था। एकांत देख उसने बहुत आहिस्ता से रक्खी को पुकारा था। किसी दूसरे आदमी के सामने वह चुप रहता। रक्खी को यह निश्चय था, पूरन उसे अकेले मिलने की चेष्टा में रहता है। वह थप थप थापी से कपड़े पीटती जाती और पूरन की दुष्टता की बात सोचती जाती।

तालाब से जिस जगह झरना गिरता है उस जगह गरने<sup>१</sup> की भारी झाड़ी है। कुछ आदम पर रक्खी ने सिर उठाकर देखा। सचमुच पूरन ही झाड़ियों की आड़ से निकलकर सामने आ खड़ा था। रक्खी बहुत घबड़ाई, उसकी बल खाई लटें चारों ओर बिखर रही थीं। उसके शरीर पर केवल एक भीगी हुई चादर लिपटी थी। पूरन ने होठों पर उँगली रख, उसे बिल्कुल चुप रहने का संकेत किया। रक्खी क्रोध और लज्जा से बावली हो गई।

उसने शरीर को चादर में सिमटा, आँखें निकाल कहा—‘इट यहाँ से। तू यहाँ क्यों आया बेशर्म!’

पूरन ने इस फटकार की परवाह न की। वह कुछ कदम आगे बढ़ आया। रक्खी ने झुँझलाकर कहा—जा यहाँ से, नहीं तो मैं अभी चिल्लाती हूँ; तेरा सिर दाव से कटवाती हूँ।’

पूरन के चेहरे पर एक आर्द्र व्याकुलता छाई थी, मानो उसे अपने प्राणों का भय नहीं, कुछ और ही भय था। उसने एक कदम और आगे आ एक लंबी साँस खींचकर कहा—‘रक्खी !’

रक्खी ने और सिमटकर कहा—‘मैं चिल्लाती हूँ, दूर हो चांडाल !’

पूरन ने आहिस्ता से कहा—‘तू चिल्लाएगी तो मैं उन शरनोंवाली चट्टानों पर कूद पड़ूंगा।’

रक्खी ने चिल्लाने के लिए छाती में साँस भरी, पलक मारते में पूरन गरने की एक डाल पकड़ शरने पर लटक गया। पूरन का केवल मुँह और बाहें रक्खी को दिखाई दे रही थीं।

रक्खी की चिल्लाहट दब गई। उसने भय से तड़पकर कहा—‘हाय, ना पूरन !’

पूरन फिर ऊपर आ गया। रक्खी उसी तरह गठरी सी बनी बैठी थी। उसकी बड़ी बड़ी आँखों में जल भर आया था। पूरन को आगे आते देख रक्खी ने गिड़गिड़ाकर कहा—‘हाय, मैं तेरे पैर पड़ती हूँ, तू जा !’

पूरन ने काँपते हुए स्वर में कहा—‘मैं जाता हूँ; एक बात पूछूँगा रक्खी ! तू मुझसे व्याह करेगी ?’

रक्खी का सारा शरीर लाल हो गया। उसने फिर गिड़गिड़ाकर कहा—‘हाय, तू चला जा !’

पूरन ने कहा—‘रक्खी ! तू मुझसे व्याह नहीं करेगी, तो मैं जहर खाकर मर जाऊँगा। बता, मुझसे व्याह करेगी ?’

रक्खी ने कातर स्वर में कहा—‘मैं क्या जानूँ, चाची जाने। तेरे पैर पड़ती हूँ, जा, कोई आ जायगा।’

पूरन ने कहा—‘पारो तो अभी घर पहुँची होगी। रक्खी ! मैं दिन रात तेरा नाम जपता हूँ, तू मुझसे नाराज रहती है।’

रक्खी ने अत्यंत व्याकुल स्वर में फिर दुहराया—‘हाय पूरन ! जा ।’

पूरन ने प्रार्थना के स्वर में पूछा—‘सच बता, मुझसे नाराज है; मेरे सिर की कसम, एक दफे बता दे ।’

रक्खी ने आँख पोंछ जवाब दिया—‘नहीं; अब जा, पारो आ जायगी ।’

पूरन ने कहा—‘मैं जाता हूँ, पर तू रोज पानी लेने आमलेवाली बावड़ी पर आना । देख मैं कुछ बोलूँगा नहीं, केवल एक आँख देख लिया करूँगा ।’

रक्खी ने हाथ जोड़, बिलखकर कहा—‘हाय पूरन ! जा ।’

पूरन ने कहा—जाता हूँ, पर जिस दिन तू नहीं आयगी, मैं झरने पर आकर कूद पड़ूँगा ।’

पूरन चला गया ।

×

×

×

अगले दिन रक्खी दिन भर असमंजस में पड़ी रही । मन भारी सा हो गया । वह पूरन की बात न सोचने का यत्न करती थी, परंतु वह मन से हटता ही न था । उसे उस पर क्रोध आता था, क्यों वह उसके मन में बार बार आता है ? उसे क्रोध आता था, परंतु पूरन के प्रति पहला विद्वेष अब न जाने कहाँ चला गया ।

रक्खी को मालूम होता था—वह थक गई है, जल में बही चली जा रही है, पैर पृथ्वी पर नहीं लगते, दूर किनारा दिखाई दिया, परंतु किनारे पर पूरन खड़ा था, कोई चारा न था, उसने आँखें बंद कर लीं परंतु निश्चय था वह डूबेगी नहीं ।

तीसरे पहर उसकी छाती लुहार की धौंकनी की तरह धक धक करने लगी । आमलेवाली बावड़ी पर वह किस तरह जायगी और न

जाने से ही किस तरह निर्वाह होगा ? उसने मन में कहा—चाहे जो हो, यह बेशरमी मुझसे न हो सकेगी। ब्याकुलता और भय से उसके लिये खड़े रहना असंभव हो गया। वह एक चादर में मुँह लपेटकर खाट पर पड़ गई।

दिए जल गए पर रक्खी खाट से न उठी। माँ के बुलाने पर उसने कह दिया—‘सिर में दर्द हो रहा है।’ उसका हृदय द्रवित होकर नेत्रों के रास्ते बह जाना चाहता था, इच्छा होती खाट के नीचे धरती फट जाती और वह उसमें समा जाती। उसी समय उसका पिता लक्खीसिंह बाहर से लौटा। घबराई हुई आवाज में उसने रक्खी की माँ से कहा—‘बड़ा जुलम हुआ, नंबरदार का लड़का पूरन चीड़ताल के झरने से गिर पड़ा।’

रक्खी की माँ की चीख निकल गई, उसने कहा—‘क्या ?’

लक्खीसिंह ने कहा—‘अपनी एक भैंस को ढूँढ़ने वह ताल पर गया था, जाने कैसे उसका पैर किसी पत्थर पर से फिसला और वह नीचे झरने में गिर पड़ा। पिरथू नीचे खेत में था, उधर कुत्ते को भौंकते देख उसने शोर मचाया। कई आदमियों की मदद से वहाँ से निकलवा, नंबरदार के घर पहुँचा कर अभी आ रहा हूँ।’ लंबी साँस खींच उसने कहा—‘देखो भगवान् की करनी। लड़का चट्टानों पर नहीं गिरा, चीड़ों और गरनों की जड़ों में उसकी टाँगें फँस गईं, लातों की तमाम खाल खिंच गई, पर जान बच गई। चट्टान पर गिरता तो हड्डी चूर चूर हो जाती।’

रक्खी पहली ही बात सुनकर मूर्छित हो गई थी। बात का पिछला भाग कानों के रास्ते दिमाग में न पहुँच सका। माँ ने जब उसे खाना खा लेने के लिये पुकारा, उत्तर न पा समझ लिया लड़की को नींद आ गई है।

कुछ रात और जाने पर सोने से पहले माँ बेटी को देखने आई । रक्खी खाट पर चित पड़ी खुली आँखों से छत की ओर देख रही थी । माँ को उसने नहीं देखा । माँ ने लड़की के सिर पर हाथ रखकर देखा, वह बुखार की गरमी से जल रहा था

माँ और पारो घबराहट में बैठकर रक्खी के हाथों और पैरों को काँसे की कटोरी से मलने लगी । माँ पारो को पूरन के गिरने और बचने का हाल, जैसा जैसा पड़ोसियों से सुना था, समझा रही थी । धीरे धीरे वह बात रक्खी के कान में भी पहुँची । वह फूटकर रो उठी । पारो ने पूछा—‘बहिन, सर दरद हो रहा है क्या ?

माँ ने कहा—‘नहीं, नहीं, बुखार की बेहाशी है । ला, ठंडे पानी का अँगोछा सिर पर रख ।’

रक्खी सारी रात बहुत रोई ।

×

×

×

तीज का त्योहार था । रिम झिम रिम झिम पानी बरस रहा था । लड़के लड़कियाँ, गाँव की मनचली नई व्याही हुई बहुरे नंबरदार के आँगन में लगे शहतूत के बड़े पेड़ पर झूला डालकर झूल रही थीं और गीत गा रही थीं । रक्खी बहुत मनाने पर भी नीचे न उतरी, वह गुम सुम रुआसी सी बैठी थी । आध मील पर उसके माइके हैं, परंतु पहली तीज पर भी एक दिन के लिये उसे माइके जाने न दिया । छोटा भाई आकर लौट गया । वह रात पूरन से रूठ गई तो उसे डाँट खानी पड़ी । बरस भर उसे समुराल आए नहीं हुआ, लेकिन इसी बीच में कई दफे उसे डाँट और मार की धमकी मिल चुकी थी । वह लाड़ से पली लता की तरह थी । माँ बाप ने उसे कभी तिरछी आँखों नहीं देखा था । उसका दिल भला धमकियाँ सहने लायक था ?

वीरो रक्खी की ननद थी। उसका ब्याह हुए चार बरस हो गए थे, लेकिन अब भी वह तीजों पर मायके आई थी। ससुराल में वही रक्खी की सहेली थी। जिठानियाँ उसपर नाजायज दबाव रखना चाहती थीं। सास की नजरों में छोटी बड़ी सब एक थीं। एक वीरो को ही उसके प्रति पक्षपात था। कुछ उसके अनुपम रूप के कारण, कुछ बचपन का सहेलपन। उससे उसे कुछ बटाना न था। वीरो की उम्र कुछ ज्यादा नहीं थी, परंतु उसका दबदबा था। पति भी उसे बहुत मानता था। वह खास समझदार समझी जाती थी। वीरो और रक्खी एक खाट पर लेटकर घंटों सुख दुख की बातें किया करती थीं। रक्खी की जिठानियाँ जलतीं और बड़बड़ातीं, परंतु वीरो को कोई कुछ नहीं कह सकता था।

वीरो ने रक्खी की आँखें अपने आँचल से पोंछकर कहा—‘हाय, हाय ! पागल लड़की इतना घबराती है !’ रक्खी उसका गोद में सिर रखकर बोली—‘मैं तो यों ही मर जाऊँ तो अच्छा है, पर मुझे बद-किस्मत को मौत कहाँ ?’

वीरो ने उसे छाती से लगाकर कहा—‘कैसी बातें करती है। तुझे कौन सा दुःख है, पगली ! तेरे जैसा मर्द किसके होगा ?’—और उसका सिर चूम लिया।

रक्खी ने कहा—‘जीजी ! अब वह बात नहीं। मर्दों के दिल का ठिकाना नहीं। मुझे माँ बाप ने कभी आँख तक नहीं दिखाई, ये मुझे हमेशा धमकाते रहते हैं, मारने की धमकी देते हैं। मैंने कहा—मुझे एक दिन के लिये माँ को देखने भेज दो। नहीं माने, उल्टे धमकाने लगे। अब जब अपना मन हो तभी हँसते बोलते हैं, नहीं तो बात बात पर डाँट देते हैं। जीजी अब मेरा दिल जीने को नहीं चाहता, उनका दिल अब फट गया है। न जाने उनका दिल ‘उसी’ बात से नाराज

है, पहिले दिन ही मुझे डाँटने लगे थे। जीजी, उनका जी बड़ा कड़ा है; जरा दया नहीं। उन्हें मेरी कुछ परवाह थोड़े ही है।’

वीरो ने रक्खी की पीठ पर हाथ रख उसे गोद में खींचकर कहा—‘पागल है, तेरी जितनी परवाह पूरन करता है, उतना कोई क्या करेगा ? मर्द ने जरा डाँट डपट न को तो ऐसा मिट्टी का लोंदा मर्द ही क्या ? वह तो मर्दों की मर्दानगी है, उनका कायदा है। बिलकुल भिनभिन करे ऐसे मर्द से तो किराहत उठती है। पागल, अपने मर्द की डाँट तुझे बुरी लगती है, तेरी परवाह उसे न हो तो तू कहीं जाए, उसे क्या मतलब ? तू तो उसके दिल का टुकड़ा है, इसी से तुझे पूरन सोने की डिब्बिया में रखता है। मैं जानती हूँ, तेरी तकलीफ सुनकर पूरन कैसे बेहाल हो जाता है, पर सबके सामने कहने लगे तो कैसे काम चले ? अपनी ही चीज को डाँटा भी जाता है। डाँटने क्या किसी और को जायगा ? जिस पर मरता है, उसी को तो डाँटेगा।’

रक्खी ने गहरी साँस ले, आँसू पोंछते हुए कहा—‘जीजी ! वह बात अब नहीं, कहाँ जान देने को फिरते थे, कहाँ बात बात पर धमकी !’

वीरो ने छोटी भाभी को गले लगाकर कहा—‘पहले और बात थी, तू पराई चीज थी, तुझ पर हक नहीं था, तेरी खुशामद थी। अब तू है अपनी, समझी पगली ? तू क्या पराई बनकर रहेगी ? बोल ?’





## इन नई कहानियों का अनुशीलन

### ‘दो बूँद आँसू’

में कुछ रेखाचित्रों द्वारा एक सामाजिक सत्य का इतिहास लिखा गया है। उन सुंदर दृश्यों में से दो तो हमारे हृदय पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं—हरीश के साथ अरुणा की अलहड़ पढ़ाई और लखनऊ के सजे कमरे में उसी अरुणा के आँसू। ये चित्र इतने मार्मिक हैं कि किसी भी सहृदय के हृदय को द्रवित कर देते हैं—अनुभवी भाव-प्रवण मानव उन्हें भूल नहीं सकता।

इस स्वाभाविक और सरल कहानी में एक बुद्धिग्राह्य प्रश्न भी है। न समझनेवालों के रसास्वाद में उसके बिना कुछ बिगड़ता नहीं और समझदारों के लिये उसमें समाज का एक मर्म है। वह है हरीश का ‘पाप और परिताप’।

इन विशेष गुणों के अतिरिक्त इस कहानी में किस्सा कहानीवाला घटना का जादू भी है। कोरी बटना भी सरल पाठक को रिझाने और रमाने में समर्थ है।

इन सभी तत्वों और गुणों को अपने आवरण-से सुंदर बनानेवाली भाषा अनुभवी कलाकार की स्वाभाविक सरलता और सादगी की साख भर रही है।

### श्यामा

इस कहानी में नारी-हृदय को परखनेवाली चित्तेरी ने नारी-जीवन का एक रहस्य चित्रित किया है। ‘मनोविश्लेषण’ के विद्वान् जिसे कामशास्त्र की एक उत्लक्षण मानते हैं, व्यवहार के ज्ञाता जिसे गार्हस्थ्य

का मर्म समझते हैं वही 'हृदय की वासना'—व्यक्ति की असली चाह इस कहानी का प्रतिपाद्य है। प्रेम करनेवाला पति समझता है कि मैं प्रेम करता हूँ, मैंने उसको अपना तन मन धन सब समर्पित कर दिया है, वह अब पूर्ण सुखी है। कुछ स्त्रियाँ इस प्रकार सुखी हो भी जाती हैं पर अनेक बार ऐसा भ्रम हो जाता है कि पति अपने मन को 'उनका' मन और अपने सुख को 'उनका' सुख समझ बैठता है। वह दो बातें भूल जाता है। एक तो यह कि 'सर्वमात्मवशं सुखम्' जो कुछ अपने वश में रहता है वही सुख है, स्वतंत्र जीवन की भावना ही सर्वोच्च सुख है और दूसरे यह कि प्रत्येक की रुचि और संस्कार में भिन्नता होती है। मोहन कभी नहीं सोचता कि श्यामा उसके वैभवपूर्ण घर को पिंजरा समझ सकती है और न वह यही समझ पाता कि भिन्न परिस्थिति में पलने के कारण, साहचर्य के नियमानुसार उस अल्हड़ और पहाड़ी बालिका की वासना और रुचि भिन्न हो सकती है। मोहन उसको सुखी करना चाहता है पर कभी 'उसकी अंतरात्मा की ध्वनि' को सुनने और पहचानने का प्रयत्न नहीं करता। श्यामा के हृदय में 'निरंतर जलन' बनी रहती है, गृहस्थी का रस फीका होने लगता है। प्रकृति की कृपा से इस उपेक्षित सुकुमारी को मातृत्व मिल जाता है और गृहस्थी की दूसरी झाँकी देखने को मिलती है।

'अंतरात्मा की ध्वनि' का प्रश्न प्रायः अधिक गृहस्थों के सामने रहता है? कभी प्रकृति काल की सहायता से उसे सुलझा देती है, कभी बंधन में पड़ी हुई नारी अपने विद्रोह और स्पष्ट व्यवहार से स्वयं ही उसका उपाय ढूँढ़ निकालती है पर इन दोनों से सुंदर और युक्तियुक्त मार्ग है उस अंतरात्मा और अंतर्ध्यामी की ध्वनि को सुनना और पहचानना। इसी में दांपत्य की सफलता है—गार्हस्थ्य जीवन की पूर्णता है। साहित्यकार का यही मार्ग है।

इस कहानी में एक करुण स्वर है जिसे अभिव्यक्त करने में सरल और मनोरम भाषा, सौम्य शैली, वस्तु की पूर्णता, स्त्री-चरित्र की विशेषता, पुरुष की अनजान भूल, आदि सभी बातों ने योग दिया है। यद्यपि इस अनुभूतिपूर्ण कहानी का लक्ष्य तो है 'श्यामा का व्यथित हृदय' पर मोहन जैसे भोले प्रेमियों के लिये इसमें बुद्धिग्राह्य संदेश बहुत बड़ा है—मनन की सामग्री बहुत अधिक है।

'श्यामा' इस साहित्यिक नाम में ही बिंदु में सिंधु के समान पूरी कहानी का रस और ज्ञान भरा हुआ है।

### प्राणों का प्रलय

सहृदय पूरी कहानी पढ़कर देखता है कि वह आरंभ में भयानक भूकंप का प्रलय सह लेता है पर अंत में जो प्राणों का प्रलय हो रहा है उसे वह नहीं सह सकता। हृदय में होनेवाला द्वंद्व कितना भयंकर और असह्य होता है। 'जामें दो न समाहिं' वाला नारी-हृदय उपकार के भार से दबकर अपना शरीर दूसरे को दे देता है पर हृदय में तो एक ही का आसन रहता है। जब संसार का व्यवहार और लोकाचार इस हृदय के सच्चे स्वरूप को नहीं देखना चाहता उस समय मानव कितना विकल और विवश होकर तड़पता है। यही अनुभूति इस कहानी का संदेश है।

इसी छोटी कृति में भाषा और भाव की स्वाभाविक मिठास के साथ ही घटना का वैचित्र्य और कुतूहल भी है पर वह कवि का लक्ष्य नहीं है, चाहे उससे किसी पाठक का मनोरंजन भले हो जाय।

### दो रेखाएँ

इस कहानी को पकड़कर एक सहृदय कहता है कि कहानी अद्भुत है! पाठक 'अद्भुत अंश' ढूँढ़ने के लिये कहानी पढ़ता है। जब

वह 'राय' की मृत्यु देखता है तो थोड़ा ठहर जाता है। तुरंत ही वह चित्र की दो रेखाएँ देखता है और देखता है कि चेडविक जैसे अस-हृदय ने वहाँ अपना नाम लिख दिया।...दो क्षण तक स्तब्ध रहने के पीछे पाठक भी कह देता है—कहानी सचमुच अद्भुत है ! यह मानव स्वभाव उससे भी अधिक अद्भुत है !!

भाषा और प्रवाह सभी कुछ नए युग की सफल कहानी के अनुरूप है।

### नुमायश

इस कहानी में कहानी के सभी गुण हैं। यह इतनी छोटी है कि इसे कोई कामकाजी भी एक बैठक में पढ़ सकता है। इसकी शैली में इतना प्रवाह और भाषा में इतनी सबलता है कि पाठक अनजाने ही आगे बढ़ता चला जाता है। पर इसका सबसे पहला आकर्षण है इसकी सीधी सादी घटना। बड़ी परिचित बात है; एक अंधी बुढ़िया भिख-मंगिन का हाथ पकड़े एक छोटा लड़का नुमायश के सामने घूम रहा है। इतना तो हम सभी देखते हैं पर कवि ने इस घटना के भीतर झाँककर देखा है। वही भीतर की झाँकी दर्द भरी कहानी है। छोटी सी घटना इतने कौशल से सामने आती है कि दिल पर चोट किए बिना नहीं रहती। आप से आप करुणरस की निष्पत्ति हो जाती है। कहानी पूरी हो जाती है पर अंधी माँ का ठहाका मारकर हँसना नहीं भूलता। उसमें कितना मार्मिक व्यंग्य है ! कितना भीषण चीत्कार है !! उसकी ठेस सहृदय का हृदय ही जानता है।

कहानी की कथा अपने छोटेपन में भी पूर्ण है, कुछ छूटने नहीं पाया है। सब कुछ है। समाज के दोनों पक्ष हैं। एक ओर नुमायश

की मस्तानी सैर और दूसरी और मुहताज अंधी का एक लड़का। माँ के हृदय का चित्रण ही कहानी का हृदय है। इसी से चरित्र-चित्रण सफल होने पर भी आलोचक की दृष्टि में यह रसप्रधान कहानी है।

कथावस्तु और चरित्र-चित्रण दोनों का सौंदर्य बढ़ानेवाला तीसरा गुण है माँ-बेटे का मर्मस्पर्शी वार्तालाप। लड़का कहता है—

‘माँ, सामान जा रहा है।’

‘तो ?’

‘हमने नहीं देखी।’

‘अगले साल देख लेना।’

इन छोटे वाक्यों में साक्षात् करुणा बोल रही है।

लेखक कहानी की कथोपकथन शैली का उस्ताद है। वह व्यर्थ का वर्णन नहीं करता। केवल माँ के ठहाके की बात लिखकर चुप हो जाता है। उसका यही मौन कहानी कला की सफलता है। भाषा भी वैसी ही अनगढ़, सरल और ‘स्वाभाविक’ है जैसी कहानी की घटना। और यद्यपि कहानी का एक प्रयोजन है समाज पर व्यंग्य तथापि वह कलाकार की कला में छिपा हुआ है। हमारे सामने केवल कहानी है।

### रूप

साहित्यकार रूप की कहानी लिखने में रूपवतो का सहज सलोना चित्र सामने रखता है। किस प्रकार एक शृंगारप्रिय युवती अपने सौंदर्य को यत्न से रक्षित रखना चाहती है पर यह संचित रूपनिधि जब प्रकृति के उपद्रवों द्वारा छिनने लगती है, तब वह किस प्रकार विवश और विह्वल होकर दीनता का अनुभव करती है। इसी दीन क्षण में उसे पुत्र के रूप में अपना रूप देख पड़ता है। गई निधि पाकर वह आनंद-विभोर हो जाती है। न केवल भुवन की माँ ही,

प्रत्युत सभी सयानी स्त्रियाँ उसे चिरजीवी होने की आशीस देकर अपना आनंद प्रकट करती हैं और व्यंजना की भाषा में यह भी कह डालती हैं कि संचित रूप-सौंदर्य से अर्पित रूप सौंदर्य अधिक स्थायी और शांतिमय होता है ।

### रूप का अंतिम चित्र

रवि ठाकुर ने कहीं लिखा है कि अमरत्व अमृत में नहीं, अमृत चखनेवाले में रहता है । प्रत्येक अनुभवी दशक इस आत्मप्रधानता में विश्वास करता है । ‘रूप का अंतिम चित्र’ इसी आत्मप्रधानता के रंग में रंगी हुई कहानी है । रूप अपने मित्र डाक्टर से कहता है—‘मूर्ख कहीं का । तुम्हारी दृष्टि हमेशा वस्तुओं पर ही रही, आगे नहीं गई । देखो भाई, इधर आओ, इसी रूमाल में देखो ।’ चित्रकार हाथ पकड़कर उसे अपना मानस चित्र दिखा भी देता है । यही उसका अंतिम चित्र है ।

### ‘आषाढस्य प्रथमदिवसे’

यह ‘शीर्षक देकर सफल कहानीकार ने पूरी कहानी की व्याख्या कर दी है । यह मेघदूत की अनुभूति और कल्पना का व्यक्तिगत जीवन में साक्षात्कार है । कहानी ने कहानीकार को कालिदास से, प्रकाश को यक्ष से, देहात की चंदा को अलकापुरी की यक्षिणी से मिलाने का जो प्रयास किया है वही तो इस कहानी का अपनापन है । अंत में संयोग का दृश्य दिखाकर कहानीकार ने अपना सच्चा अनुभव सामने रख दिया है, कालिदास बनने का झूठा अभिनय नहीं किया ।

एक बात और । अंतके सात-आठ वाक्य न भी लिखे जाते तो भी भी नाटकीय ढंग से पूर्णता आ जाती—

‘भाभी भी तो आई हैं ।’

इस वाक्य के आगे मौन ही अधिक प्रभावशाली होता पर मानव स्वभाव की सहज कमजारी है बोलना ।

### विद्रोह

‘श्यामा की समस्या सुलझाने में हमने देखा था कि एक उपाय यह भी है कि पिजरबद्ध नारी स्वयं विद्रोह करे और मुक्त हो जावे । उस विद्रोह का सजीव चित्र यह कहानी है । श्यामा की लेखिका ने प्रकृति की शरण ली है और विद्रोह के लेखक ने संतप्त नारी के विद्रोह को उचित समझा है पर दोनों ने ही ‘नारी-हृदय की निरंतर जलन’ और ‘पुरुष की अज्ञान भूल’ की ओर संकेत करके उस अंतर्मन के ज्ञान और विश्लेषण को महत्त्व दिया है । यही अनुभूति और यही बुद्धि-ग्राह्य संदेश इन कहानियों का मर्म है । और आकर्षण तो इन कृतियों का इनकी अभिव्यक्ति में रहता है ।

### चाची

हिंदू धर्मशास्त्रों में एक विचित्र बात मिलती है कि पुत्र के द्वारा हम अपने पितृशृण से मुक्त होते हैं । और लोग समझें चाहे न समझें, पर साहित्यकार तो इसे खूब समझते हैं । जब हम स्वयं वत्सल होकर संतान के लिये फूल से भी कोमल हो जाते हैं तब हम कुछ कुछ समझते हैं कि हमारे माता पिता का स्नेहमय मोह क्यों अमुक अमुक ‘उचित’ काम करता था । ‘चाची’ का स्नेहमय हृदय कहानीवाले दंपती की समझ में तब आया जब अपने पुत्र के संबंध में उस बुढ़िया की निःस्वार्थ वत्सल भावना को देखने का अवसर पाया । यह कहानी अनुभवी सहृदय के लिये ‘गागर में सागर’ है ।

### परिवर्तन

वारेस्वर बाबू मानव को चित्रित नहीं करते, मानव-मन की प्रवृत्ति का चित्रण करते हैं ! सीधी कहानी है । सौदागर दो दो पैसे के खिलौने

एक एक पैसे में बेचकर घाटा उठाता है पर खुद बिकनेवालों को जो लाभ होता है वही हृदय की शांति उसे मिली। इस प्रकार 'काठ का हृदय' परिवर्तित हो जाता है वत्सल मानव के हृदय में। एक विस्मयकारी सत्य का उसे अनुभव होता है कि दूसरे बच्चे के प्यार ने उसे अपने बच्चे का प्यार सिखा दिया।

### पराई

इस संग्रह की कहानियाँ सभी एक से एक सुंदर और अपने आप बेजोड़ हैं पर यह कहानियाँ हमें बहुत प्रिय हैं। चित्रों की लुनाई तो सर्वत्र द्रावक है पर अंत में ननद भौजाई का रहस्यालाप तो माधुर्य और सौहार्द का अद्भुत उदाहरण है। केवल एक शब्द है।

तू क्या पराई बनकर रहेगी? इसमें केवल एक जीवन की नहीं, अनेक व्यक्तियों के जानों की नहीं, अनेकों के अनेकों युगों की अनुभूति छिपी है। ऐसी सनातन अनुभूति ही ज्ञान और धर्म का स्रोत बनती है।

कहते नहीं बनता कि इस कहानी का प्रयोजन क्या है, सद्यःपर-निवृत्ति, कांतासम्मिततयोपदेश अथवा व्यवहार ज्ञान !













